बहुजन साहित्य की प्रस्तावना (हिंदी)

Pramod Ranjan, Abhay Kumar Dubey, Rajendraprasad Singh, Sharankumar Limbale, Rajendra Yadav, Premkumar Mani, Bajrangbihari Tiwari, Virendra Yadav, Hareram Singh, Chouthiram Yadav, et al.

▶ To cite this version:

Pramod Ranjan (Dir.). बहुजन साहित्य की प्रस्तावना (हिंदी). 2016, ⟨10.17613/bmhv-pw69⟩. ⟨hal-03779378⟩

HAL Id: hal-03779378

https://hal.science/hal-03779378

Submitted on 6 Feb 2023

HAL is a multi-disciplinary open access archive for the deposit and dissemination of scientific research documents, whether they are published or not. The documents may come from teaching and research institutions in France or abroad, or from public or private research centers.

L'archive ouverte pluridisciplinaire **HAL**, est destinée au dépôt et à la diffusion de documents scientifiques de niveau recherche, publiés ou non, émanant des établissements d'enseignement et de recherche français ou étrangers, des laboratoires publics ou privés.

Distributed under a Creative Commons Attribution - NonCommercial 4.0 International License

बहुजन साहित्य की प्रस्तावना

संपादक : प्रमोद रंजन
आयवन कोस्का

अनन्य शोधकर्ता व आलोचक कंवल भारती को

बहुजन साहित्य की प्रस्तावना

संपादक

प्रमोद रंजन

आयवन कोस्का

FORWARD PRESS फारवर्ड प्रेस
By and for India's aspiring millions
लाखों भारतीयों की आकांक्षाओं का प्रतीक
BOOKS

The Marginlised Publication

प्रकाशक : **द मार्जिनलाइज्ड**
इग्नू रोड, नई दिल्ली - 110068
पंजीकृत कार्यालय : सानेवाड़ी वर्धा, महाराष्ट्र - 442001

ई-मेल : themarginalised@gmail.com
संपर्क : +91-9968527911, 8130284314

© फारवर्ड प्रेस बुक्स

आईएसबीएन : 978-81-932584-2-2
आवरण : डॉ. लाल रत्नाकर
डिजाइन-लेआउट : राजन कुमार
मुद्रक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032

बहुजन साहित्य की प्रस्तावना (साहित्यालोचना)
संपादक : प्रमोद रंजन और आयवन कोस्का

BAHUJAN SAHITYA KI PRASTAVANA (Literaty Criticism)
Edited by Pramod Ranjan & Ivan Kostka

पुनर्मुद्रित : जून, 2017
प्रथम संस्करण : जून, 2016

अनुक्रम

बहुजन साहित्य की प्रस्तावना		7
बहुजन साहित्य : एक बड़ी छतरी		10
एक अवधारणा का निर्माण काल		12
खण्ड : 1 – ओबीसी साहित्य विमर्श		
पिछड़े वर्ग का रिनेसां : इंतज़ार जारी है!	*अभय कुमार दुबे*	17
ओबीसी साहित्य की अवधारणा	*राजेंद्र प्रसाद सिंह*	21
'ओबीसी विमर्श से मिला दलित आंदोलन को लाभ'	*शरण कुमार लिम्बाले*	28
'ओबीसी साहित्य जैसी कोई चीज नहीं, लेकिन विमर्श हो'	*राजेंद्र यादव*	34
'यह तुम्हारा समय है, मेरा नहीं'	*राजेंद्र यादव*	43
साहित्य में जाति विमर्श	*प्रेमकुमार मणि*	46
ओबीसी साहित्य पर विमर्श	*बजरंग बिहारी तिवारी*	49
आलोचना की अधोगति	*प्रेमकुमार मणि*	51
ओबीसी साहित्य की अवधारणा कितनी प्रासंगिक?	*वीरेंद्र यादव*	54
जिनकी सत्ता, उनका साहित्य	*हरेराम सिंह*	59
ओबीसी नायकों ने किया दलित चेतना का विकास	*चौथीराम यादव*	62
सबसे बड़ा है ओबीसी साहित्य का दायरा	*हरिनारायण ठाकुर*	65
ओबीसी साहित्य से आपत्ति नहीं	*जयप्रकाश कर्दम*	71
घर का भेदी और मेरी लंका	*सुधीश पचौरी*	74
खण्ड : 2 – आदिवासी साहित्य विमर्श		
आदिवासी साहित्य विमर्श : चुनौतियां और संभावनाएं	*डा. गंगा सहाय मीणा*	79
उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के बगैर क्या बहुजन साहित्य संभव है?	*अश्विनी कुमार पंकज*	83
बहुजन साहित्य की अवधारणा और आदिवासी	*कंवल भारती*	87
बहुजन अस्मिताबोध एवं वैज्ञानिक चेतना	*मुसाफिर बैठा*	91
खण्ड : 3 – बहुजन साहित्य विमर्श		
रेणु का पुण्य स्मरण	*प्रेमकुमार मणि*	95
मुख्यधारा बने बहुजन अवधारणा	*कंवल भारती*	98
भारतीय सर्वहारा के रूप में बहुजन	*अरविंद कुमार*	101
'बहुजन' सिर्फ जातियों पर आधारित होंगे?	*देवेंद्र चौबे*	103
बहुजन साहित्य : कुछ नोट्स	*अमरेन्द्र कुमार शर्मा*	106

बहुजन साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की कसौटी	*संजीव चंदन*	109
बहुजन साहित्य से आगे आएंगी तारा और सावित्रीबाई	*अनिता भारती*	111
बहुजन साहित्य के अलावा सब लुगदी	*संदीप मील*	114
महात्मा बनाम महात्मा की बहस चलाएं	*वामन मेश्राम*	116
'मैं बहुजन साहित्य के विचार में यकीन करती हूं'	*अरुंधति रॉय*	118
सिर्फ द्विजों में ही होती है साहित्यिक प्रतिभा?		121
लेखक परिचय		124

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय

साहित्य की दुनिया में निष्कर्ष से अधिक महत्वपूर्ण निष्कर्ष तक पहुंचने की प्रकिया होती है। जब हम कोई उपन्यास पढ़ रहे होते हैं, तो हमारे लिए क्लाइमेक्स से अधिक महत्वपूर्ण उसमें आया जीवन होता है। यही बात कविता, कहानी व साहित्य की अन्य विधाओं के बारे में भी सही है और प्रकरांतर से यही बात इस किताब पर भी लागू होती है। फारवर्ड प्रेस पत्रिका में चले साहित्य संबंधी बहस-मुबाहिसे में से चुने हुए इन लेखों में आप एक जीवंत वैचारिक ऊष्मा पाएंगे। यह किताब बहुजन साहित्य की अवधारणा के नक्शे की निर्माण प्रक्रिया से आपका परिचय कराएगी तथा आप इसके विविध रूपों पर हुई बहसों की तीखी तासीर को महसूस कर पाएंगे। ये बहसें आपको एक सुचिंतित निष्कर्ष की ओर ले जाएं, इतनी ही इनकी भूमिका है। यही साहित्य का काम है और यही आलोचना का भी। निष्कर्ष तो आपको स्वयं ही तय करने होते हैं।

मासिक फारवर्ड प्रेस का प्रकाशन मुद्रित पत्रिका के रूप में मई, 2009 से जून, 2016 तक हुआ। एक जून से यह पत्रिका स्वतंत्र वेबपोर्टल में रूपांतरित हो गई है। बहुजन साहित्य की अवधारणा पर रचनाओं और आलोचना का प्रकाशन इसके वेब पोर्टल पर भी जारी है। इस किताब में संकलित लेख इस विमर्श के आरंभिक दौर के हैं। आज यह यात्रा वहां से कई पायदान आगे बढ़ चुकी है, फिर भी ये आरंभिक लेख इस पूरी प्रकिया को समझने के लिए आवश्यक हैं। किताब में लेखों का क्रम प्रकाशन के समय के आधार पर न रखकर विषय के आधार पर रखा गया है, ताकि आप इस विमर्श को अधिकाधिक आत्मसात कर सकें।

बहुजन साहित्य की अवधारणा अपने आप में एकदम सीधी है - अभिजन के विपरीत; बहुजनों का साहित्य। जैसा कि ढाई हजार साल पहले बुद्ध ने कहा था - बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय। लेकिन इस संबंध में कुछ महत्वपूर्ण चीजों को भी ध्यान में रखना चाहिए। बहुजन साहित्य बहुसंख्यकों का साहित्य जरूर है, लेकिन यह बहुसंख्यकवाद का साहित्य नहीं है। इसका आधार संख्याबल नहीं, बल्कि इसके विपरीत सामाजिक और सांस्कृतिक वंचना के पक्ष में जिस सामूहिक-सामुदायिक-सांप्रदायिक चेतना का निर्माण मनुवाद करता है, बहुजन साहित्य उसके विरुद्ध विभिन्न सामाजिक तबकों की प्रतिनिधि आवाज है। यह साहित्य समाज के उस अंतिम आदमी का साहित्य

है, जो किसी भी प्रकार की वंचना झेल रहा है। यह न सिर्फ आर्थिक वंचना और अस्पृश्यता के सवाल को उठाता है, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण के विविध रूपों को भी चिह्नित करता है, तथा उसे भी उतना ही महत्वपूर्ण मानता है। बहुजनवाद और बहुसंख्यकवाद के इस फर्क को सबसे पहले संज्ञान में लेना चाहिए। बहुजनवाद स्वतंत्रता, समता और मैत्री का विवेक है, जबकि बहुसंख्यकवाद अभिजनों के वर्चस्व का एक वैचारिक माध्यम। वर्ण और जाति के प्रभुत्व वाले समाज में बहुजन अवधारणा विभिन्न वंचित सामाजिक समूहों की साझी पीड़ाओं और सांस्कृतिक-साहित्यिक अभिव्यक्तियों की समानता को लक्षित करती है तथा उन सभी लोगों को साथ लेकर चलने का वादा करती है, जो इन अमानवीयताओं के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

आज के भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रमुख वंचित तबके हैं- स्त्रियां, अनुसूचित जातियां, अनुसूचित जनजातियां, अन्य पिछड़ा वर्ग, विमुक्त घूमंतू जातियां व सभी पसमांदा धार्मिक अल्पसंख्यक। बहुजन साहित्य की अवधारणा इन सभी की पीड़ाओं में समानता देखती है तथा इनके शोषण के कारणों को कमोबेश समान पाती है। इनकी पीड़ाओं के मुख्य कारण को एक शब्द में व्यक्त करना हो, तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि वह कारण मनुवाद है। यह न सिर्फ विश्व की क्रूरतम अवधारणाओं में से एक है, बल्कि समय के साथ-साथ रूप बदल लेने की इसकी क्षमता ने इसे अत्यंत दीर्घजीवी भी बना दिया है। आज इसने पूंजीवाद के साथ भी गठजोड़ कर लिया है। आप इसे एक ओर से घेरेंगे तो यह दूसरी ओर से फूट पड़ेगा। हो सकता है कि आप ब्राह्मण-द्विज तबकों के आर्थिक-सामाजिक वर्चस्व से लड़ें और सफल होते दिखें, लेकिन जब आप स्त्री विमर्श के आईने में अपने परिवार को देखेंगे तो पाएंगे कि मनुवाद से हार चुके हैं। स्त्रियों के लिए तो आज भी इन लड़ाइयों का इतना ही मतलब है कि ये पुरुषों की आपसी लड़ाइयां हैं। इनमें स्त्रियों की हिस्सेदारी कहां है?

इन एकांगी लड़ाइयों में अनुसूचित जातियां प्रायः अस्पृश्ता और सामाजिक बहिष्करण से लड़ रही हैं, अनुसूचित जनजातियां अपने जल, जंगल, जमीन के लिए कॉरपोरेट घरानों से भिड़ी हैं, अन्य पिछड़ा वर्ग सामाजिक अवहेलना और रोजी-रोजगार छिनते जाने के खिलाफ हिस्सेदारी की लड़ाई लड़ रहा है, विमुक्त घुमंतू जातियां अपनी सामाजिक पहचान और रोटी की लड़ाई लड़ रही हैं, जबकि पसमांदा मुसलमान व अन्य धार्मिक अल्पसंख्यक अपने कथित समतामूलक धर्म के वास्तविक सिद्धांतों को लागू करवाने के लिए मुल्ला, मौलवियों, पादरियों से उलझे पड़े हैं। विशेषाधिकार प्राप्त परिवारों में पैदा हुए लोग, जिन्हें हम आम बोलचाल भाषा में सवर्ण कहते हैं, उनमें भी ऐसे लोग हैं, जिनके पारिवारिक संस्कार और बौद्धिक प्रतिबद्धताएं निरंतर धींगामुश्ती कर रही होती हैं। उन्हें साहित्य ने, समाज विज्ञान ने, इतिहास ने जो जानकारियां और सबक दिए हैं, वे उन्हें बेचैन किए हैं कि कहीं वे उल्टी दिशा में तो नहीं खड़े हैं। सामाजिक जीवन में सक्रिय हर व्यक्ति जानता है कि उनमें से कम से कम कुछ वंचित तबकों की इन

लड़ाइयों के अनन्य समर्थक रहे हैं तथा 'डी-कास्ट' होने की हरसंभव कोशिश करते हैं।

अलग-अलग प्रकार की उपरोक्त सभी लड़ाइयों में अनेक गहरी समानताएं हैं, इन सबका लक्ष्य भी स्पष्ट तौर पर एक ही है - सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से समतामूलक व संवेदनशील समाज का निर्माण। इनकी प्रतिनिधि अभिव्यक्तियां जब साहित्य के रूप में सामने आती हैं, तो उनका मूल स्वर भी यही रहता है। इसके विपरीत अभिजनों का, विशेषाधिकार प्राप्त लोगों का जो साहित्य और वैचारिकी है, वह इन लड़ाइयों को निरर्थक मानती हैं अथवा मनु और नीत्शे के नक्शेकदम पर चलने की वकालत करती हैं। उनकी वैचारिकी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वंचित समूहों के आपसी झगड़ों को उभारती है तथा उन्हें अलग-अलग प्रकोष्ठों में कैद कर देना चाहती है, जबकि बहुजन साहित्य की अवधारणा उनके इस छद्म को भंग करती है तथा संघर्ष की एक विशाल, मुकम्मल प्रस्तावना रखती है तथा अलग-अलग समूहों की अपनी समस्याओं को भी रेखांकित करने की आवश्यकता पर बल देती है। समाजशास्त्र व साहित्यालोचना की सैद्धांतिक शब्दावली में कहें तो यह मेगा नरेटिव और माइक्रो डिस्कोर्स को एक दूसरे के विरुद्ध नहीं खड़ा करती, बल्कि उन्हें एक दूसरे के पास लाती है तथा एक दूसरे का पूरक बनाती है।

बहुजन सैद्धांतिकी भारत में प्रतिरोध परंपरा की प्रचीनतम सैद्धांतिकी है। बुद्ध से पूर्व लोकायत परंपरा में भी इसके सूत्र मिलते हैं। साहित्येतिहास लेखक, साहित्य संबंधी शोधकर्ता और आलोचक का यह दायित्व है कि वह साहित्य की अंतर्वस्तु की पड़ताल करते हुए इन समानताओं को रेखांकित करे तथा अलग-अलग चलने वाली लड़ाइयों को एक-दूसरे के करीब लाने की कोशिश करे।

फारवर्ड प्रेस की समझ है कि उपरोक्त बहुजन वैचारिकी में विभिन्न कारणों से टूट आई है, जिसे मरम्मत की जरूरत है। हम हर संभव कोशिश करेंगे कि इस टूट के कारणों की पड़ताल करनेवाली तथा इसे पाटनेवाली सामग्री 'फारवर्ड प्रेस बुक्स' के माध्यम से आपके सामने रखें। साहित्य इस वैचारिकी का सिर्फ एक आयाम है, लेकिन भारतीय भाषाओं में चूंकि सैद्धांतिकी के विकास और विचार मीमांसा का काम प्रायः सिर्फ साहित्य और साहित्यालोचना के जरिए होता है, इसलिए हिंदी में बहुजन अवधारणा के विकास के लिए साहित्य मीमांसा बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। इसलिए हम अपनी आगामी किताबों में भी साहित्य मीमांसा पर विशेष बल देंगे। शायद यहां यह स्पष्टीकरण जरूरी हो कि हिंदी पट्टी में काम करना हमारी सीमा भी है और प्रतिबद्धता भी। हालांकि हम अन्य भारतीय भाषाओं से भी निरंतर संवाद में संलग्न रहेंगे तथा हिंदी पट्टी के लिए अछूते रहे बहुजन सैद्धांतिकी के उपलब्ध पहलुओं को सामने लाने की कोशिश करेंगे।

इसी कड़ी में 'बहुजन साहित्य की अवधारणा' को व्याख्यायित करनेवाली कुछ और किताबें भी हम शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे, जिनमें इसके आगे की कड़ियां होंगी।

इस किताब पर आपकी प्रतिक्रिया का इंतजार रहेगा।

-प्रमोद रंजन

बहुजन साहित्य : एक बड़ी छतरी

प्रमोद रंजन

'बहुजन साहित्य' की अवधारणा का जन्म *फारवर्ड* प्रेस के संपादकीय विभाग में हुआ तथा इसका श्रेय हमारे मुख्य संपादक आयवन कोस्का, आलोचक व भाषाविज्ञानी राजेंद्र प्रसाद सिंह तथा लेखक प्रेमकुमार मणि को है। यह पिछले लगभग डेढ़ वर्षों में हमारे बीच चले वाद-विवाद और संवाद का नतीजा था। सबसे पहले श्री कोस्का ने, जब मैं *फारवर्ड* प्रेस में मई, 2011 में संपादक(हिंदी) नियुक्त हुआ, मुझे अपने 'ओबीसी साहित्य' संबंधी विचार से परिचित करवाया, बाद में राजेंद्र प्रसाद सिंह भी 'ओबीसी साहित्य' की अवधारणा लेकर सामने आए थे, लेकिन प्रेमकुमार मणि ने इस शब्दावली का घनघोर विरोध किया था। मैं भी इस शब्दावली से सहमत नहीं था। मैंने उस समय 'ओबीसी साहित्य' की जगह 'शूद्र साहित्य' कहने का प्रस्ताव रखा था। 'शूद्र' शब्द संस्कृति और हिंदू धर्म द्वारा प्रदत्त है तथा शूद्रों तथा अतिशूद्रों की एक लंबी साहित्यिक परंपरा भी हिंदी पट्टी में मौजूद रही है। अंततः हम 'बहुजन साहित्य' नाम की एक बड़ी छतरी के नाम पर सहमत हुए और वर्ष अप्रैल, 2012 में फारवर्ड प्रेस ने पहली 'बहुजन साहित्य वार्षिकी' प्रकाशित की। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उस वार्षिकी की चर्चा हुई।

बहुजन साहित्य क्या है?

◆ बहुजन साहित्य को उस बड़ी छतरी की तरह देखा जाना चाहिए, जिसके अंतर्गत दलित साहित्य, (सुविधा के लिए इसे हम अतिशूद्रों का साहित्य भी कह सकते हैं) के अतिरिक्त शूद्र साहित्य, आदिवासी साहित्य तथा स्त्री साहित्य आच्छादित है। आंबेडकरवादी साहित्य, ओबीसी साहित्य आदि जैसी अनेक शब्दावलियां, विचार, दृष्टिकोण इसके आंतरिक विमर्श में समाहित हैं।

◆ हिंदी में पिछले दो दशकों के दौरान दलित साहित्य की अवधारणा को स्वीकृति मिली है, लेकिन इसके दो बड़े विरोधाभास भी हैं। पहला, इसे यह स्वीकृति 'हाशिए के साहित्य' के रूप में मिली है, यानी मुख्यधारा 'कोई और' साहित्य है। कम्युनिस्ट

पार्टियों से जुड़े लेखक इस 'कोई और' साहित्य को प्रगतिशील/जनवादी साहित्य कहते हैं, जबकि राजेंद्र यादव तथा प्रायः सभी दलित लेखकों और समर्थकों का मत है कि 'जो दलित साहित्य नहीं है, वह द्विज साहित्य है।' यानी, उनके अनुसार, हिंदी की मुख्यधारा का साहित्य 'द्विज साहित्य' है। दूसरी ओर, प्रगतिशील साहित्य के नाम पर अनेक ऐसे द्विजों के साहित्य की भी गणना की जाती है, जिनके लेखन की अंतर्वस्तु के बड़े भाग पर उनकी द्विज चेतना हावी रही है। दलित साहित्य का दूसरा विरोधाभास यह है कि वह सिर्फ अनुसूचित जाति तक सीमित रह गया है, यानी जो जातियां भारतीय संविधान के अनुसार 'एससी' सूची में दर्ज हैं, उन्हीं में पैदा हुए लेखक का साहित्य दलित साहित्य होगा, यानी वह सिर्फ अतिशूद्र का साहित्य है। शूद्र इससे बाहर हैं।

◆ हिंदी साहित्य के इतिहास में जो भी बड़े आंदोलन हुए, चाहे वे भक्ति आंदोलन हों या प्रगतिशील आंदोलन, नई कहानी आंदोलन सभी 'मुख्य धारा' का साहित्य बने। क्या यह एक प्रश्न नहीं बनता है कि अपनी बौद्धिक गुणवत्ता और परिर्वतनकामी चेतना के बावजूद दलित साहित्य को क्यों 'हाशिए' के साहित्य के रूप में देखा गया और 'द्विज साहित्य' 'मुख्यधारा के साहित्य' की पदवी का आनंद उठा रहा है। अगर इसे षड्यंत्र नहीं मानें, तब भी क्यों यह तथ्य दलित लेखकों को अपने भीतर झांकने, अपनी अवधारणात्मक गलतियों को सुधारने के लिए नहीं उकसाता?

◆ हमें कबीर और रैदास के साहित्य में अगर समानताएं मिलती हैं तो क्या हम इनमें पर्याप्त फर्क भी नहीं पाते? इसी तरह, जोतिबा फुले और आंबेडकर के चिंतन में अनेक समानताएं हैं तो अनेक फर्क भी हैं। अतिशूद्र, शूद्रों और आदिवासियों तथा स्त्रियों के बीच मुख्य समानता उन्हें मनुवादी व्यवस्था द्वारा प्रताड़ित किए जाने तथा उसके विरुद्ध उनका संघर्ष है। यह समानता इनके साहित्य को 'बहुजन साहित्य' के खाते में रखती है तथा असमानताएं (जो न सिर्फ जीवन मूल्यों में, बल्कि उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति में साफ तौर पर झलकती हैं) उन्हें अपने-अपने साहित्य (दलित साहित्य, ओबीसी साहित्य, आदिवासी साहित्य) को बनाए रखने का उचित एवं पर्याप्त आधार प्रदान करती हैं।

◆ बहुजन साहित्य की अवधारणा का विकास वस्तुतः हिंदी साहित्य की आलोचना के विकास का सवाल है। जैसे-जैसे हम बहुजन साहित्य को चिह्नित करते जाएंगे, द्विज साहित्य स्वतः हाशिए का साहित्य बनता जाएगा, क्योंकि हिंदी साहित्य का अधिकांश हिस्सा बहुजन साहित्य ही है। जरूरत इस बात की है कि हम कितने कोणों से अपने साहित्य को परखते हैं।

(फारवर्ड प्रेस, साहित्य वार्षिकी, अप्रैल, 2013 के संपादकीय का अंश)

एक अवधारणा का निर्माण काल

प्रमोद रंजन

यह फारवर्ड प्रेस की तीसरी बहुजन साहित्य वार्षिकी है। वर्ष 2012 में हमने इसे पहली बार जोतिबा फुले और भीमराव आंबेडकर की जयंती के अवसर पर अप्रैल महीने में प्रकाशित किया था। वर्ष 2013 में भी यह अप्रैल में ही आई। इस साल अप्रैल-मई में लोकसभा चुनाव होने के कारण हमें लगा कि अप्रैल महीने के अंक को साहित्य की बजाय 'बहुजन राजनीति' को समर्पित करना चाहिए। बहरहाल मई में प्रकाशित हो रही यह वार्षिकी भी भारत के इन्हीं दोनों महापुरुषों को समर्पित है, जिन्होंने देश में आधुनिक बहुजन सोच के लिए जमीन तैयार की।

जोतिबा फुले और आंबेडकर दोनों ने मुख्य रूप से अलग-अलग शब्दावली में शूद्रों-अतिशूद्रों तथा स्त्री की गुलामी और इससे मुक्ति के लिए इनकी एकता की बात की है। हिंदी में 'बहुजन साहित्य' का जन्म प्रकारांतर से इसी विचार के सांस्कृतिक-सामाजिक आधार की खोज की जरूरत पर बल देने के लिए हुआ है। वर्ष 2012 में जब हमने पहली बार बहुजन साहित्य वार्षिकी प्रकाशित की थी, उस समय यह विचार बहुत नया था, इसलिए कुछ हिंदी लेखकों को इस बारे में समझाना कठिन साबित हुआ था, लेकिन पिछले दो सालों में स्थितियां काफी बदली हैं तथा अनेक पत्रिकाओं ने इस विषय पर चर्चा की है। इस विचार के लिए हमारी प्रशंसा और निंदा दोनों खूब हुई। साहित्य की दुनिया में निंदा भी चुप्पी से भली होती है। इस मामले में 'बहुजन साहित्य' का विचार सौभाग्यशाली रहा कि अनेक प्रमुख हिंदी लेखकों ने इस मामले में अपना कोई न कोई मत बनाया तथा उसे किसी न किसी रूप में प्रकट भी किया। फारवर्ड प्रेस के इस अंक में भी आप मराठी लेखक शरण कुमार लिंबाले (देखें, इस पुस्तक में पेज 28) तथा अनेक प्रमुख हिंदी लेखकों को इस विषय पर विभिन्न मत-मतांतरों के साथ पाएंगे। कुछ 'किंतु-परंतु' के साथ सभी इस पर लगभग एकमत हैं कि बहुजन साहित्य की प्राचीन धारा की खोज होनी चाहिए तथा इसे समकालीन साहित्य की प्रमुख धारा बनना चाहिए, जिसमें दलित, आदिवासी, ओबीसी व स्त्री का साझा साहित्य शामिल हो।

कुछ लेखकों की आपत्ति ओबीसी साहित्य को लेकर है। इस साहित्य के

'ओबीसी' नामकरण से मैं भी आरंभ से ही सहमत नहीं हूं। 'ओबीसी' एक संवैधानिक-कानूनी पद है, जिसे सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ी जातियों को राज्य द्वारा कुछ भौतिक लाभ देने के लिए गढ़ा गया है। अलग-अलग प्रदेशों में इस पद के अंतर्गत ब्राह्मण, राजपूत और वैश्यों की भी अनेक उपजातियां शामिल हैं। जाहिर है, इन जातियों का बहुजन जातियों के साथ साझेपन का कोई पुख्ता आधार नहीं है। इसलिए 'ओबीसी' साहित्य के नामकरण को लेकर तो आपत्ति जायज है, लेकिन यह मध्यवर्ती जाति समूह भारतीय समाज की एक विशाल वास्तविकता है, इसे हम कैसे अनदेखा कर सकते हैं? एक अंग्रेजी कहावत का सहारा लेकर कहूं तो कमरे में अगर हाथी मौजूद हो तो हमें अन्य बातों को छोड़कर सबसे पहले उसी पर बात करनी होगी। भारत में मध्यवर्ती जातियां सबसे बड़ा सामाजिक समूह हैं, जो 'ओबीसी' संवैधानिक-कानूनी समूह का भी प्रमुख हिस्सा हैं। इस समूह के साहित्य को आप सुविधा के लिए 'ओबीसी साहित्य' का नाम दे रहे हैं। आम बोलचाल की भाषा में तो यह चल सकता है, लेकिन मुझे लगता है कि साहित्य में हमें इसे 'मध्यवर्ती जातियों का साहित्य' कहना चाहिए, या फिर इसके लिए और अधिक स्पष्ट अर्थछविवाला कोई शब्द ढूंढना चाहिए। उम्मीद है आने वाले समय में हम इस पर और बहस-मुबाहिसे से गुजरेंगे तथा इस समूह के साहित्य के लिए एक सर्वमान्य नामकरण संभव हो सकेगा। बहरहाल यह तो बहुत स्पष्ट ही है कि बहुजन साहित्य की अवधारणा इस विशाल समूह के साहित्य की विशिष्टताओं के पहचान के बिना असंभव है।

मध्यवर्ती जातियों और दलित जातियों के बीच प्राचीन काल से ही साझेपन का मजबूत आधार रहा है। मनुवादी व्यवस्था में दोनों के लिए निचली जगहें निर्धारित थीं। छूत और अछूत का भेद सिर्फ द्विजों की सुविधा के लिए था, ताकि रोजमर्रा के कामों में वे इन दोनों समूहों का अलग-अलग तरीके से उपयोग कर सकें। पिछले लगभग 2500 सालों के ज्ञात इतिहास के नायकों को देखें - बुद्ध, कौत्स, मक्खली गोशाल, अजित केशकंबली, कबीर, शाहू जी महाराज, जोतिबा फुले, आंबेडकर, राममनोहर लोहिया, कांशीराम। दक्षिण भारत के नायकों को छोड़ भी दें तो भी यह सूची बहुत लंबी हो सकती है, लेकिन आप कैसी भी सूची बनाएं, एक बात तो यह दिखती है कि इनमें से अधिसंख्य मध्यवर्ती सामाजिक समुदायों में पैदा हुए हैं। दूसरी बात यह स्पष्ट दिखती है कि ये नायक चाहे मध्यवर्ती जातियों में पैदा हुए हों या दलित जातियों में, सबने इन दोनों समुदायों तथा स्त्रियों की साझी गुलामी से मुक्ति की बात की। आज की परिस्थितियों में वर्तमान व्यवस्था की सबसे अधिक मार खा रहे आदिवासी भी इस अवधारणा के अंतर्गत आएंगे।

जैसा कि आप जानते होंगे कि अकादमिक क्षेत्रों में पिछले सालों में बहुजन युवाओं की संख्या तेजी से बढ़ रही है। मुझे विश्वास है कि मानविकी, समाज विज्ञान,

इतिहास तथा साहित्य के अनुशासनों में उच्च शिक्षा में आनेवाले ये युवा अपनी मेहनत, त्वरा और जमीन से जुड़े जीवनानुभव के कारण अगले अधिकतम पांच वर्षों में सिर के बल खड़े अधिकांश विमर्शों को पैर के बल पर खड़ा कर देंगे। 'बहुजन साहित्य' की अवधारणा तो इसकी शुरुआत भर है।

(फारवर्ड प्रेस, साहित्य वार्षिकी, मई, 2014 का संपादकीय)

ओबीसी साहित्य विमर्श

पिछड़े वर्ग का रिनेसां : इंतज़ार जारी है!

अभय कुमार दुबे

उत्तर प्रदेश के चुनाव को अगर हांडी का एक चावल माना जाए, तो इस नतीजे पर पहुंचा जा सकता है कि संविधान में भारतीय समाज के जिस हिस्से को अन्य पिछड़ा वर्ग या ओबीसी कहा गया है, वह एक आधुनिक राजनीतिक समुदाय बनने की अपनी कोशिशों में बहुत दूर तक नहीं जा पाया है। पिछड़े वर्ग का मतदाता मंडल एक ऐसी अरक्षित पूंजी की तरह है, जो सिर्फ़ लुटने के लिए स्वतंत्र है। पिछड़ों में सभी राजनीतिक ताकतों की सेंधमारी है। चाहे वे ऊंची जातियों की चौधराहट के तले चलने वाले कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी जैसे दल हों, या मुख्यतः दलित जनाधार वाली बहुजन समाज पार्टी हो, या खुद पिछड़ों की ही नुमाइंदगी का दावा करने वाली छोटी (राष्ट्रीय क्रांति पार्टी, राष्ट्रीय लोक दल या अपना दल वगैरह) और बड़ी (समाजवादी पार्टी) पार्टियां हों। एक सामाजिक–राजनीतिक श्रेणी के रूप में अन्य पिछड़े वर्ग का यह बिखराव एक गहरी सांस्कृतिक विफलता की ओर इशारा करता है। फिलहाल इस सांस्कृतिक विफलता को ठोस रूप से परिभाषित करना मुश्किल है, पर उसकी लाक्षणिकता को चिह्नित अवश्य किया जा सकता है।

इसका एक चिह्न यह है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में 'पिछड़ा' शब्द आज तक 'अपमानजनक से सम्मानजनक' की यात्रा संपन्न नहीं कर पाया है। पिछड़ों के उलट सामाजिक श्रेणीक्रम में उनके मुकाबले कहीं ज़्यादा नीचे रही अनुसूचित जातियों ने निर्विवाद रूप से यह कर दिखाया है। वे खुद के लिए जिस 'दलित' संबोधन का इस्तेमाल करती हैं, उसके सामाजिक मायने वे नहीं रह गए हैं, जो शब्दकोश में दर्ज हैं। दलित का सामाजिक निहितार्थ अब टूटा हुआ, दबा हुआ या कुचला हुआ नहीं है। बल्कि उसका मतलब हो गया है संघर्षशील और ऊर्ध्वगामी। इस दलित-सफलता के मोटे तौर पर दो आयाम हैं : पहला, सामुदायिक स्तर पर ज़बरदस्त विभेदीकरण के बावजूद कमोबेश राजनीतिक एकता, जिसकी अभूतपूर्व अभिव्यक्ति उत्तर प्रदेश के धरातल पर अक्सर होती रहती है; और दूसरा, साहित्यिक और सांस्कृतिक स्तर पर लगातार एक वैकल्पिक दुनिया बनाने की बौद्धिक जद्दोजहद। इसके विपरीत पिछड़ों के एजेंडे पर न तो राजनीतिक एकता है, और न ही किसी

किस्म की साहित्यिक–सांस्कृतिक प्रयास। पिछड़े वर्ग का अपना कोई अलग साहित्य नहीं है, न ही उनके पास अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां हैं। एक तरफ़ उनके वोट ऊंची जातियों की पार्टियों की छीन-झपट में फंसे हुए हैं, और दूसरी तरफ़ सांस्कृतिक धरातल पर उनके आचरण और सृजनात्मकता में ऐसा कुछ नहीं है, जो उन्हें द्विजों की बौद्धिकता से अलग दिखा सके। 'अपमानजनक से सम्मानजनक' की यात्रा तभी संपन्न हो पाती है, जब हर क्षेत्र में विकल्प देने का आग्रह किया जाता है। दलितों से पहले यह उपलब्धि नक्सलवादियों ने की थी। दलितों को यह उपलब्धि हासिल करने में काफ़ी वक्त लगा है, और उनकी यह कामयाबी सारे देश में समान भी नहीं है, पर वे जिस रास्ते पर चल रहे हैं, उसकी मंज़िल दूर सही, लेकिन हर तरह से सुस्पष्ट है।

उत्तर प्रदेश में पिछड़े मतदातामंडल के बिखराव की रोशनी में ओबीसी नेतृत्व के ग्राफ़ पर भी एक नज़र डालना मुनासिब होगा। पिछड़े वर्ग की राजनीति का इतिहास बताता है कि वह हमेशा से ही दो हिस्सों में बंटी रही है। एक हिस्सा वामपंथी और समाजवादी किस्म का रुझान रखने के कारण दक्षिणपंथ से परहेज़ करता रहा है। संभवतः इसी कारण से समाजवादी-पिछड़ों ने ऊंची जातियों के साथ किसी भी तरह का प्रभावी सामाजिक–राजनीतिक गठजोड़ कर पाने से परहेज़ करते हुए क्रमशः मुसलमानों और दलितों के बीच अपना जनाधार बढ़ाने की कोशिश की, जो अपने-आप में एक प्रशंसनीय लोकतांत्रिक रणनीति थी। अगर यह सफल होती तो, हमारे चुनावी लोकतंत्र को एक विशाल और नए राजनीतिक समुदाय का तोहफा मिलता। कई बार ऐसा लगा भी कि इसके अनुकूल परिणाम निकलने वाले हैं। 1993 में उत्तर प्रदेश के पैमाने पर समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी के गठजोड़ को मिली कामयाबी ऐसा ही एक उल्लेखनीय क्षण था। इसी तरह बिहार में 1995 में लालू यादव को मिली बेहतरीन चुनावी कामयाबी भी इसी श्रेणी में आती है। इन सफलताओं ने एक साथ कांग्रेस और दक्षिणपंथियों को कोने में धकेल दिया और पिछड़ों, दलितों एवं मुसलमानों की प्रकट एकता उभरती हुई दिखने लगी, लेकिन यह उभार काठ की हांडी साबित हुई। भाजपा के बढ़ते प्रभाव के कारण मुसलमान कुछ वर्षों तक ज़रूर अपना भयादोहन करवाते रहे, पर दलितों ने समाजवादियों के प्रति अरुचि जल्दी ही ज़ाहिर कर दी। इसके विपरीत पिछड़े वर्ग के नेतृत्व का दूसरा हिस्सा या तो दक्षिणपंथ का वाहक बन कर उभरा, या फिर उसने गैर-सांप्रदायिक तेवर अपनाते हुए भी सांप्रदायिक कही जाने वाली ताकतों के साथ हेल-मेल करने में संकोच नहीं किया। परिणामस्वरूप पिछड़ों की इस गोलबंदी को समय-समय पर ऊंची जातियों से मिलने वाले समर्थन का राजनीतिक लाभ हुआ।

समाजवादी-पिछड़ों की विफलता का मुख्य कारण समाजवादी कल्पनाशीलता की बुनियादी खामियों में भी निहित है। 1957 और 1962 के आम चुनावों के लिए तैयार किए गए सोशलिस्ट पार्टी के घोषणापत्रों का विश्लेषण करने पर दिख

जाता है कि समाजवादी चिंतन के पास दलितों और मुसलमानों को देने के लिए ठोस रूप से कुछ नहीं था। ध्यान रहे कि ये घोषणापत्र स्वयं डॉ. राममनोहर लोहिया ने लिखे थे। लोहियावादी उन्हें अपने प्रिय डॉक्टर साहब की कृति के रूप में ही पढ़ते हैं। ये घोषणापत्र सांप्रदायिकता की समस्या को रेखांकित करने में पूरी तरह नाकाम रहे। देश-विभाजन के बाद नेतृत्वविहीन और अरक्षित मुसलमानों को लगा कि समाजवादियों के पीछे खड़े होने से उन्हें कुछ नहीं मिलेगा। दूसरी तरफ इन घोषणापत्रों ने 'पिछड़ा पावे सौ में साठ' का नारा देते हुए दलित-प्रश्न को पिछड़ेपन की ही श्रेणी बना दिया। चूंकि 'बैकवर्डनैस' और 'अनटचेबिलिटी' दो अलग-अलग श्रेणियां थीं, इसलिए दोनों की राजनीति भी अलग-अलग ही होनी थी। समाजवादियों ने पिछड़ों का झंडा बुलंद किया और उन्हें बदले में पिछड़ों का समर्थन भी मिला, लेकिन इसके परे उनके हाथ सामाजिक आधार के रूप में तकरीबन कुछ नहीं लग सका। उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव और बिहार में लालू प्रसाद यादव ने अपने राजनीतिक कौशल से इन मूलभूत अंतरालों को भरने की भरपूर कोशिश की, लेकिन आज ये दोनों नेता भी कई तरह की कामयाबियों के बाद बदलते हुए समय के सामने असहाय खड़े हैं। उनके सामने ही उनके राजनीतिक विरोधी (नीतिश कुमार और मायावती) ऊंची जातियों के साथ समयानुकूल गठजोड़ निकाल कर आगे बढ़े जा रहे हैं। भाजपा के पराभव के कारण अब मुसमलान भी अपना भयादोहन करवाने के बजाय समाजवादी-पिछड़ों से इतर अपने लिए गुंजाइशें तलाश रहे हैं। वैसे भी मुसलमानों के बीच एक दूसरी प्रक्रिया भी चल रही है। उनके बीच वैसे ही सामाजिक विभेदीकरण की चेतना पनपने लगी है, जैसी हिंदुओं के बीच है। एक धार्मिक किस्म के राजनीतिक समुदाय के रूप में उनकी राजनीति अब पहले जैसी नहीं है, वे अब बहुत बंट कर वोट देते हैं।

अगर समाज के स्तर पर देखें, तो समाजवादी-पिछड़े और दक्षिणपंथी-पिछड़े यादव और ग़ैर-यादव के खेमा में बंटे हुए हैं। अब इनमें एक तीसरा खाना भी बन गया है। यह तीसरी श्रेणी है अति-पिछड़ों की, जिनकी सामाजिक हैसियत दलितों से केवल एक मायने में ही अच्छी है कि उन्हें अस्पृश्यता का सामना नहीं करना पड़ता है। उत्तर प्रदेश से लेकर बिहार तक ये अति-पिछड़े किसी भी पार्टी और किसी भी विचारधारा के लिए उपलब्ध हैं। चूंकि इनका वोट खामोश रहता है और उनकी आवाज़ अलग से बुलंद नहीं की जाती, इसलिए किसी नेता या पार्टी का राजनीतिक भविष्य बनाने-बिगाड़ने संबंधी उनकी क्षमता का सही-सही आकलन नहीं हो पाता है। उनकी राजनीतिक सफलताओं का श्रेय दूसरे ले जाते हैं। उत्तर प्रदेश में 2007 का चुनाव इसका प्रमाण है। मायावती की असाधारण चुनावी सफलता का श्रेय मीडिया और अन्य विश्लेषकों ने उनकी सर्वजन रणनीति को दिया। छवि कुछ ऐसी बनाई गई कि मायावती की जीत के पीछे ब्राह्मण-दलित गठजोड़ है। लेकिन वोटों के आंकड़े कुछ और ही कहानी कह रहे थे। ऊंची जातियों के वोट मायावती को

पहले के मुकाबले ज़्यादा ज़रूर मिले थे, लेकिन यह हकीकत छिपी हुई रह गई कि अति-पिछड़ों के 34 फ़ीसदी वोटों के बिना वे बहुमत के मुकाम तक नहीं पहुंच सकती थीं।

उत्तर प्रदेश में कांशीराम ने अपनी बहुजन राजनीति में अति-पिछड़े मतदाताओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। वे जानते थे कि समाजवादी-पिछड़ों (व्यावहारिक रूप से यादव समुदाय) और दक्षिणपंथी-पिछड़ों (व्यावहारिक रूप से ग़ैर-यादव, मुख्य रूप से लोधी और शाक्य समुदाय) के वोट दलित जनाधार वाली पार्टी को नहीं मिलेंगे। इसलिए पिछड़ों की मलाईदार परत के रूप में उन्होंने पहले तो कुर्मी समुदाय को अपनी ओर खींचा और साथ में अति-पिछड़ों की नियोजित राजनीति करते रहे। 2007 में मायावती को कांशीराम की बनाई गई इस ज़मीन का विशेष लाभ मिला, लेकिन इस बार पिछड़े वोटों के इस हिस्से पर सबकी निगाहें हैं। 2002 के चुनावों में राजनाथ सिंह के नेतृत्व में भाजपा ने अति-पिछड़ों की अलग से गणना करने का प्रयास किया था, ताकि उन्हें आरक्षण का विशेष लाभ देकर हिंदुत्ववादी राजनीति के पाले में खींचा जा सके। राजनाथ सिंह कल्याण सिंह की नाराज़गी के कारण लोध मतदाताओं के हाथ से फिसल जाने की भरपाई करना चाहते थे। भाजपा के विफल प्रयासों की यह कहानी सभी को पता है। इस सिलसिले में यह एक दिलचस्प तथ्य है कि यादव, लोध और कुर्मी प्रभुत्व वाली राजनीतिक ताकतें इस अति-पिछड़े मतदाता मंडल की निष्ठा प्राप्त करने के लिए सबसे कम कोशिश करती हुई दिखती हैं। जाहिर है कि ये वोट अधिकांशतः बसपा, कांग्रेस और भाजपा के बीच ही बंटने वाले हैं।

पिछड़े वर्ग की राजनीति एक ऐसे दोराहे पर खड़ी हुई है, जहां उसके लिए खुद को पुनः परिभाषित करना अनिवार्य हो गया है। समाजवादी-पिछड़ों और दक्षिणपंथी-पिछड़ों की जत्थेबंदियां उतार पर हैं। उनकी वैचारिक आभा मंद पड़ चुकी है। राजनीतिक समुदाय के रूप में पिछड़े अपनी दावेदारी करने में विफल रहे हैं। पिछड़े वर्ग का रिनेसां होते-होते रह गया है। इंतज़ार जारी है।

(फारवर्ड प्रेस, फरवरी, 2012)

ओबीसी साहित्य की अवधारणा

राजेंद्र प्रसाद सिंह

जब धर्म-संप्रदाय के नाम पर हिंदी साहित्य में सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य और जैन साहित्य की काव्यधारा की पहचान की जा सकती है एवं की गई है, तब ओबीसी साहित्य के रूप में एक मुकम्मल और सशक्त काव्यधारा की पहचान क्यों नहीं की जा सकती है? इतना ही नहीं, जब ईश्वर के नाम पर और उसके रूप के आधार पर हिंदी साहित्य में राम काव्य, कृष्ण काव्य, सगुण काव्य, निर्गुण काव्य आदि जैसी साहित्यिक काव्यधाराओं का वर्गीकरण किया जा सकता है एवं किया गया है, तब ओबीसी साहित्य से परहेज़ क्यों? अगर भारतीय समाज में एक साहित्यिक युग (सामंत युग) दबंग वर्ग के नाम पर हो सकता है, तब उसी समाज के एक कमज़ोर एवं पिछड़ा वर्ग के नाम पर ओबीसी साहित्य की अवधारणा क्यों नहीं खड़ी की जा सकती है? वर्ग क्या, जाति के आधार पर भी हिंदी साहित्य में 'चारण काल' जैसे नाम दर्ज किए गए हैं। आधुनिक काल में द्विवेदी युग (काव्य), शुक्ल युग (आलोचना) जैसे नामकरण भी जातिसूचक उपाधि के आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं। यदि दलित साहित्य हो सकता है तो ओबीसी साहित्य क्यों नहीं? आधी आबादी के नाम पर हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श और महिला लेखन को रेखांकित किया गया है। भारतीय समाज में ओबीसी की आबादी आधी से भी ज्यादा है। फिर ओबीसी साहित्य क्यों और कैसे नहीं?

'ओबीसी साहित्य क्यों?'

इसमें कोई शक नहीं कि ओबीसी साहित्य की अवधारणा को लेकर कई प्रकार के विमर्श आरंभ होंगे। इसके नामकरण पर बहसें होंगी। इसके स्वरूप पर चर्चाएं होंगी। शुद्धतावादी आचार्यगण 'जातिवादी विभाजन' द्वारा साहित्य जैसी पावन-अवधारणा को भ्रष्ट किए जाने के लिए ओबीसी साहित्य को गलियाएंगे और भी बहुत सारी बातें होंगी। पर इतना तो एकदम साफ़ है कि ओबीसी साहित्य सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों का साहित्य है।

पुनर्जन्म, भाग्यवाद, जाति-पांति, ऊंच-नीच का भेदभाव और चमत्कार जैसे

तथ्यों से द्विज साहित्य भरा पड़ा है। अवर्णमूलक या अद्विज साहित्य अर्थात् दलित साहित्य और ओबीसी साहित्य में ऐसे तथ्य नहीं हैं। हिंदी का दलित साहित्य और ओबीसी साहित्य-दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। ब्राह्मणवाद का विरोध, समतामूलक समाज की स्थापना, सामंती ताकतों का खात्मा, सामाजिक एवं धार्मिक बाह्याडंबरों का खंडन, आर्थिक समानता की स्थापना जैसे साहित्यिक स्वर इन दोनों साहित्यिक धाराओं को एक-दूसरे से जोड़ते हैं। बावजूद इसके हिंदी के दलित साहित्य ने अपना दरवाजा सिर्फ़ अनुसूचित जाति के रचनाकारों के लिए खोल रखा है। उसमें ओबीसी रचनाकारों की गुंजाइश कम होती जा रही है।

ऐतिहासिक तथ्य बताते हैं कि अर्जक संघ के नेतृत्व में दलित-पिछड़े वर्ग के लोग एक साथ थे। दोनों वर्गों के चिंतक भी एक थे। पेरियार और फुले पिछड़े वर्ग से आते हैं। आंबेडकर दलित वर्ग से आते हैं। बावजूद इसके आंबेडकर अपना गुरु फुले को मानते हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास में साहित्य की तथाकथित जो मुख्यधारा है, वह सवर्णों के लिए आरक्षित है। ऐसे में ओबीसी रचनाकार कहां जाएंगे? आज, ओबीसी साहित्य का अलग व्यक्तित्व नहीं विकसित होने के कारण सभी उसका हक मारकर अपनी झोली भर रहे हैं।

ओबीसी साहित्य पुराना है। चर्चा इसकी नई है, जैसे कि न्यूटन के खोज करने से पहले भी गुरुत्वाकर्षण था। हिंदी का कोई भी आलोचक अथवा इतिहासकार ओबीसी साहित्य की धारा को आदिकाल से लेकर मध्यकाल और आधुनिक काल तक अत्यंत सहज ढंग से पहचान सकता है। दलितों के साथ-साथ सिद्ध साहित्य में कई ओबीसी रचनाकार हैं। मीनपा मछुआरे हैं। कमरिपा लोहार हैं। तंतिपा तंतवा जाति से आते हैं। चर्पटीपा और कंतालीपा क्रमशः कहार और दर्जी हैं। मेकोपा, भलिपा, उधलिपा आदि वैश्य-वणिक हैं। तिलोपा तेली हैं। ज़ाहिर सी बात है कि मछुआरा, लोहार, तंतवा, कहार, दर्जी, बनिया, तेली आदि जातियां ओबीसी में आती हैं। ऐसे में हम दावे के साथ कह सकते हैं कि सिद्ध साहित्य ओबीसी रचनाकारों से भरा-पूरा है। कबीर, जिनको लेकर दलित साहित्य की इमारत खड़ी है, स्वयं ओबीसी रचनाकार हैं। उनकी जाति जुगी हो या जुलाहा, प्रत्येक हालत में बुनकर जातियां ओबीसी का हिस्सा हैं। ओबीसी से बाहर निकलकर समय-समय पर कई जातियां शिड्यूल कास्ट्स की सूची में जाया करती हैं। शिड्यूल कास्ट्स में जाने का मुख्य कारण सामाजिक और शैक्षिक दृष्टिकोण से अन्यों के सापेक्ष उनका और पिछड़ा होना है। अभी भी ओबीसी की सूची में शामिल कई जातियां शिड्यूल कास्ट्स की सूची में जाने की मांग कर रही हैं। इसीलिए यह कहना गलत नहीं है कि दलित साहित्य और ओबीसी साहित्य एक-दूसरे के पूरक हैं।

संत साहित्य और ओबीसी

कहा जाता है कि संत काव्यधारा में दलितों की संख्या सर्वाधिक है, परंतु यह

स्थापना देते वक्त हम ओबीसी रचनाकारों को भूल-सा जाते हैं, वरना संत साहित्य ऐसे रचनाकारों से भरा पड़ा है। सिर्फ महाराष्ट्र में ही नामदेव (दर्जी) के अतिरिक्त गोरा (कुम्हार), सांवता (माली), नरहरि (सोनार), सेना (नाई), राका (कुम्हार) जैसे कई ओबीसी के रचनाकार हुए हैं। हिंदी में त्रिलोचन (वैश्य), अखा (सोनार), सदन (कसाई), चरणदास (वैश्य), पलटूसाहब (बनिया), बुलासाहब (कुर्मी), धर्मदास (वैश्य), सिंगाजी (ग्वाल), सुंदरदास (खंडेलवाल वैश्य) आदि जैसे संत ओबीसी रचनाकार हैं। महिलाओं में भी वैश्य होने के नाते सहजोबाई और दयाबाई जैसी कवयित्रियां ओबीसी हैं। संत काव्यधारा में दो दरियादास हुए। बिहारवाले दरियादास दर्जी परिवार से आते हैं और मारवाड़वाले धुनिया हैं। दर्जी और धुनिया-ये दोनों जातियां ओबीसी की सूची में हैं। दादूदयाल भी मुस्लिम धुनिया हैं। मुस्लिम धुनिया भी ओबीसी में उसी तरह शामिल है, जैसे मुस्लिम धोबी, चीक, पमरिया आदि जातियां शामिल हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि हिंदी का संत साहित्य मुख्यतः ओबीसी और दलित रचनाकारों द्वारा लिखित साहित्य है।

हिंदी के इतिहास-ग्रंथ कई प्रकार के संप्रदायों एवं संप्रदाय विशेष के रचनाकारों से भरे पड़े हैं। संप्रदायों के चयन में इतिहासकारों ने पक्षपात किया है। उन्होंने ब्राह्मणवादी संप्रदायों को विशेष रूप से इतिहास-ग्रंथों में उछाला है और ओबीसी धारा के संप्रदायों को एक साज़िश के तहत नज़रअंदाज़ किया है। मध्यकालीन हिंदी साहित्य में वल्लभ संप्रदाय, निंबार्क संप्रदाय, राधावल्लभ संप्रदाय, सखी संप्रदाय आदि न जाने कितने ब्राह्मणवादी संप्रदायों की चर्चा है। वल्लभ संप्रदाय के 50 प्रतिशत कवि ब्राह्मण हैं। निंबार्क संप्रदाय के 100 प्रतिशत कवि गौड़ ब्राह्मण हैं। राधावल्लभ संप्रदाय के सभी प्रमुख कवि ब्राह्मण हैं। यदि कोई फ़र्क है तो यह कि कोई गौड़ ब्राह्मण है तो कोई शुक्ल ब्राह्मण है। सखी संप्रदाय के सभी कवि ब्राह्मण हैं और एक ही कुल-खानदान के हैं। ऐसे जातिपोषक संप्रदायों के बलबूते हिंदी में सवर्ण साहित्य धाक जमाए हुए है।

भक्ति के अनेक ब्राह्मणवादी संप्रदायों में श्री संप्रदाय, ब्रह्म संप्रदाय, रुद्र संप्रदाय और सनकादि संप्रदाय को विशेष ख्याति मिली है, पर सरभंग संप्रदाय की चर्चा पर इतिहासकार चुप्पी साध लेते हैं। कारण कि सरभंग संप्रदाय के सभी दमदार कवि ओबीसी के हैं। अठारहवीं शती में सरभंग संप्रदाय के कई ओजस्वी कवि मौजूद थे। छतरबाबा को उक्त संप्रदाय का आदिकवि माना जाता है। वे जाति के कुम्हार थे। उनकी पूंजी एक हांड़ी थी। उसी में दिन में स्वयं भोजन बनाते और रात में उसी को तकिया बनाकर सो रहते थे। कहते हैं कि भिनकराम से उनकी बड़ी घनिष्ठता थी। भिनकराम जाति के तंतवा थे। कुम्हार और तंतवा ओबीसी की जातियां हैं। पर सरभंग संप्रदाय के कवियों में सर्वाधिक ख्याति टेकमनराम को मिली। टेकमनराम चंपारन जिले में धनौती नदी के तट पर स्थित झखरा के निवासी थे। वे जाति के लोहार थे और राजमिस्त्री का काम किया करते थे। अन्य ब्राह्मणवादी संप्रदायों से सरभंग

संप्रदाय के कवियों का व्यवहार पक्ष अलग था। वे जाति-पांति, तीर्थ-व्रत आदि बाह्याचार को पाखंड मानते थे। वे कहते थे कि समदर्शी होने के निमित्त छुआछूत आदि के नियंत्रणों से परे मनुष्य को होना चाहिए। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि ओबीसी धारा के संप्रदायों का सिद्धांत-पक्ष एवं व्यवहार-पक्ष ब्राह्मणवादी धारा के संप्रदायों से अलग किस्म का था, परंतु दलित धारा के संप्रदायों का सिद्धांत-पक्ष एवं व्यवहार-पक्ष ओबीसी धारा के संप्रदायों से मिलता-जुलता है, कारण कि दलित धारा एवं ओबीसी धारा के संप्रदायों का मुख्य उद्देश्य जातिविहीन समाज की स्थापना करना था, जबकि ब्राह्मणवादी संप्रदाय छद्म रूप से जातिवाद को बढ़ावा दे रहे थे।

अठारहवीं शती में सरभंग संप्रदाय के समानांतर शिवनारायणी संप्रदाय का भी बोलबाला था। शिवनारायणी संप्रदाय दलित धारा का संप्रदाय था। प्रेमकुमार मणि ने लिखा है कि बाबू जगजीवन राम के पिता शिवनारायणी संप्रदाय के संत थे, जिनकी समाज में खासी इज्ज़त थी। शिवनारायणी संप्रदाय चमारों के बीच सांस्कृतिक आंदोलन चला रहा था। इसकी धूम बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में थी। ऐसे में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिंदी में ओबीसी साहित्य, दलित साहित्य और सवर्ण साहित्य की अलग-अलग धाराएं पहले से ही रही हैं वरना कबीर पंथ से ओबीसी, रैदास परंपरा से दलित तथा बावरी पंथ से सवर्ण समाज के लोग अधिकाधिक क्यों जुड़ते रहे हैं?

ब्राह्मणवादी साहित्य

जैसा कि हम कह आए हैं कि भक्ति के अनेक ब्राह्मणवादी संप्रदायों में श्री संप्रदाय, ब्रह्म संप्रदाय, रुद्र संप्रदाय और सनकादि संप्रदाय को विशेष ख्याति मिली है। कारण कि उपर्युक्त सभी संप्रदायों ने माना है कि ब्राह्मण जाति सभी जातियों में श्रेष्ठ है। यह जरूर है कि प्रायः सभी आचार्यों ने भक्ति के लिए जाति का बंधन ढीला किया है, परंतु भक्ति के लिए जातिबंधन की यह ढील जाति-पांति को मिटाने के लिए नहीं, बल्कि श्रद्धालु वर्ग की आबादी को बढ़ाने के लिए थी, ताकि चढ़ावे के रूप में बढ़ती आबादी से अधिकाधिक धन प्राप्त किया जा सके। यह कैसा दर्शन और सिद्धांत है कि किसी आचार्य ने जीव की स्थिति में सत्य की भावना उपस्थित की, किसी ने स्वतंत्र ब्रह्म के अधीन जीव को परतंत्र माना और किसी ने ब्रह्म के आगे जीव की स्वतंत्र सत्ता को ही नकार दिया, परंतु किसी ने भी ब्राह्मण की सर्वश्रेष्ठता को नकारा नहीं। मतलब यह कि ईश्वर के नाम पर ब्राह्मणवादी संप्रदाय आपस में बंटे हुए थे, पर जाति के नाम पर सभी एक थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सवर्ण साहित्य की धारा ओबीसी साहित्य और दलित साहित्य की धारा से एकदम विपरीत है, जबकि ओबीसी साहित्य और दलित साहित्य की धारा एक-दूसरे को काटती नहीं, छूती ज्यादा है।

राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि 'मेरे पास आधुनिक हिंदी साहित्य की एक सूची

है। यह सूची वर्षों पहले प्रेमकुमार मणि के साथ मिलकर बनाई गई थी। इसमें दस कवियों और दस कथाकारों के नाम हैं - क्या यह सिर्फ संयोग है कि एकाध अपवाद को छोड़कर कवि सारे ब्राह्मण हैं और सारे कथाकार गैर-ब्राह्मण... यह सूची कुछ इस प्रकार थी : पंत, निराला, महादेवी, अज्ञेय, मुक्तिबोध, मंगलेश डबराल, नागार्जुन, राजेश जोशी, अशोक वाजपेयी, अरुण कमल और उधर कहानीकार हैं : प्रेमचंद, जैनेंद्र, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, रेणु, मोहन राकेश, संजीव, पंकज बिष्ट, उदयप्रकाश, प्रियंवद और असगर वजाहत। यदि कहानीकारों की सूची में स्वयं राजेन्द्र यादव और प्रेमकुमार मणि अपना नाम जोड़ लेते तो यह सूची ओबीसी बहुल हो जाती, लेकिन ओबीसी के प्रायः रचनाकार आत्मविज्ञापन से अपने को दूर रखे हैं। यद्यपि राजेन्द्र यादव और प्रेमकुमार मणि हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कथाकारों में से हैं। कवियों की सूची से यदि महादेवी (कायस्थ) को वे बाहर कर देते और धूमिल अथवा किसी और ब्राह्मण कवि का नाम जोड़ लेते तो पूरी सूची ब्राह्मणों की हो जाती। यदि नाटक की बात करें तो आधुनिक गद्य की विधाओं में नाटक सर्वाधिक पुरानी विधा है। हिंदी साहित्य में भारतेंदु के बाद सबसे बड़े नाटककार जयशंकर प्रसाद, एक साहू ओबीसी हुए। नाटक का इतिहास प्रसाद को केंद्र में रख कर लिखा जाता है। प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। उनमें भी एक-तिहाई नाटकों की कथावस्तु मौर्य-गुप्तवंशीय राजा-रानियों पर है। ऐसा माना जाता है कि मौर्य-गुप्तवंशीय राजा ओबीसी से आते हैं।

गद्य की परंपरा का आरंभ

दरअसल हिंदी साहित्य में गद्य की परंपरा का आरंभ ओबीसी रचनाकारों ने किया। आदिकालीन राजस्थानी गद्य के कई नमूने डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने प्रस्तुत किए हैं। वस्तुतः डिंगल भाषा साहित्य-सृजन का मुख्य श्रेय चारण जाति को और उसके बाद भाट, राव, मोतीसर और ढाढ़ी जातियों को है। चारणों को प्राचीन ग्रंथों में 'भांगण' कहा जाता था। 'भांगड़' ढाढ़ियों की एक शाखा है। ढाढ़ी हिंदू भी हैं और मुसलमान भी। मुसलमान ढाढ़ी मलानूर कहलाते हैं। हिंदू ढाढ़ी जाट, सोनार, छीपी आदि जातियों से माने जाते हैं। सभी ओबीसी हैं। ऐसी ही जातियों से राजस्थानी गद्य का विकास हुआ। बिहार आदि पूर्वी प्रांतों में भी ओबीसी के सिद्धों ने गद्य लिखने की परंपरा का आरंभ किया। मिसाल के तौर पर सिद्ध कुमरिपा (कुम्हार) कृत 'योगाभ्यास मुद्राटिप्पण' को लिया जा सकता है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के खोज विभाग ने इसे प्राचीन खड़ी बोली की रचना सिद्ध किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि गद्य लेखन का आरंभ करने का श्रेय ओबीसी लेखकों को है। बाद में ऊंची जातियों के लोग भी इसमें शामिल हो गए। ओबीसी साहित्य होने के कारण हिंदी गद्य की धारा आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के प्रारंभ होने तक बीच-बीच में टूटी हुई है। यह टूटन कहीं पचास वर्षों की है तो कहीं सौ वर्षों की है। यदि

कहीं यह टूटन जुड़ती भी है तो आचार्य वल्लभ, विट्ठलनाथ और गोकुलनाथ जैसे ब्राह्मणों की खानदानी तिकड़ी से जुड़ती है, जिनके नाम से अनेक ब्रजभाषा की गद्य रचनाएं प्रसिद्ध हैं।

ओबीसी साहित्य का आधुनिक दमन

आधुनिक युग में भी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ओबीसी साहित्य और उसके साहित्यकारों को दबाने का भरपूर प्रयास किया गया। सरस्वती बीसवीं सदी के आरंभ में तथाकथित ख्यात पत्रिका थी, जिसके बारे में कहा जाता है कि इसमें द्विवेदी युग का पूरा लेखा-जोखा है, परंतु यह सिर्फ़ कहने की बात है। सरस्वती पत्रिका ने जयशंकर प्रसाद जैसे अत्यंत तेजस्वी रचनाकार की रचनाओं को भी छापने से परहेज़ किया। शायद इसीलिए प्रसादजी ने 1909 ई. में अपने भांजे अंबिकाप्रसाद गुप्त के संपादकत्व में इंदु नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरंभ किया। जयशंकर प्रसाद की आरंभिक रचनाओं को इसी के अंकों में देखा जा सकता है। इंदु एक प्रकार से ओबीसी पत्रिका थी। मैथिलीशरण गुप्त की भी आरंभिक रचनाएं कोलकाता से प्रकाशित होनेवाली एक ओबीसी पत्रिका वैश्योपकारक में छपा करती थी। वैश्योपकारक के बारे में आलोचकों के बीच अच्छी धारणा नहीं है। कारण कि उस पर ओबीसी का जातिगत ठप्पा लगा हुआ है, जबकि प्रतापनारायण मिश्र की पत्रिका ब्राह्मण (1883 ई., कानपुर) के बारे में यह कहा जाता है कि वह भारतेदुकालीन पत्र-पत्रिकाओं में श्रेष्ठ थी। वास्तविकता तो यह है कि ब्राह्मण एक घोर ब्राह्मणवादी पत्रिका थी, जिसके संपादक कहा करते थे कि कई माह बीत गए और अभी तक कोई दान-दक्षिणा नहीं मिली। सरस्वती पत्रिका में भी छपनेवाले कहानीकार अमूमन ब्राह्मण हुआ करते थे, जैसे किशोरीलाल गोस्वामी, महावीरप्रसाद द्विवेदी, गिरिजादत्त वाजपेयी, रामचंद्र शुक्ल, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, ज्वालादत्त शर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि। सरस्वती द्विजवादी पत्रिका थी जैसे बाद की कल्पना है। कल्पना का प्रकाशन हैदराबाद (1949 ई.) से होता था। ओमप्रकाश दीपक ने लिखा है कि कल्पना के शतांक में मैंने उन साढ़े पांच सौ से अधिक भारतीय लेखकों की सूची देखी, जिनकी पुस्तक की समीक्षाएं कल्पना के सौ अंकों में प्रकाशित हुईं। इनमें डेढ़ सौ से अधिक नाम ऐसे हैं, जिनके आगे लगी हुई शर्मा, पाठक, पांडे, अवस्थी, चतुर्वेदी आदि उपाधियां उनके ब्राह्मण होने की घोषणा करती हैं।

एक ऐसी ही पत्रिका मर्यादा थी, जिसके बारे में प्रचारित किया जाता है कि यह अपने समय की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका थी। कृष्णकांत मालवीय ने 1910 ई. में प्रयाग से इसे प्रकाशित किया। यह भी द्विजवादी पत्रिका थी, जिसमें ओबीसी रचनाकारों के लिए विशेष जगह नहीं थी। नमूने के तौर पर मर्यादा के नवंबर, 1912 अंक को देखा जा सकता है, जिसमें कुल मिलाकर 15 रचनाएं छपी हैं जिसमें मिश्र, अवस्थी,

जोशी, सिंह, गोस्वामी, चौबे, शुक्ल, त्रिवेदी, शर्मा और मालवीय उपाधिधारक रचनाकारों की संख्या 14 है। इसमें सिर्फ़ एक ओबीसी रचनाकार जगद्‌बिहारी सेठ हैं। ऐसी द्विजवादी पत्रिकाएं सिर्फ शाकाहारी ओबीसी रचनाकारों को छापा करती हैं, कारण कि शाकाहारी मानसिकता के ओबीसी रचनाकार ब्राह्मणवाद पर ज़ोरदार हमला नहीं करते हैं। जगद्‌बिहारी सेठ उन्हीं में से एक हैं।

ओबीसी साहित्य किस ओर?

सामाजिक क्षेत्र में 'सामाजिक न्याय' की चर्चा उफान पर है। राजनीति का जनतंत्रीकरण किए जाने पर ज़ोर है। आर्थिक विषमता को मिटाए जाने का नारा दिया जा रहा है। फिर कैसे और क्यों नहीं, साहित्य में आरक्षण या साहित्यिक न्याय की बात की जा रही है? विश्वविद्यालयों के हिंदी पाठ्‌यक्रम में सवर्ण रचनाकारों की कविताएं, कहानियां आदि भरी पड़ी हैं। शोध-कार्य भी ऐसे रचनाकारों पर अनवरत जारी है। दलित लेखकों ने विश्वविद्यालयों में दलित साहित्य विभाग खुलवा डाले हैं या हिंदी के पाठ्‌यक्रम में दलित साहित्य जुड़वा लिए हैं। परंतु ओबीसी साहित्य तो त्रिशंकु की तरह बीच में ही अटका हुआ है। दरअसल ओबीसी साहित्य दो पाटों के बीच पिस रहा है। सवर्ण साहित्य और दलित साहित्य के बीच इसकी स्थिति अत्यंत खराब है। वास्तव में ओबीसी साहित्य सवर्ण साहित्य और दलित साहित्य के बीच कराहता हुआ साहित्य है। उसकी यह स्थिति एक षड्‌यंत्र के तहत पैदा की गई है; वरना यकीन करें, ओबीसी साहित्य अत्यंत दमदार है और यह विपुल मात्रा में उपलब्ध है। ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि कोई कायदे से इसे रेखांकित करे।

यदि बिहार-झारखंड जैसे प्रांत को आधार बनाया जाए तो यहां ओबीसी की कुल मिलाकर 109 जातियां हैं, जिसमें हिंदू, मुसलमान एवं ईसाई तीनों धर्म के लोग हैं। दलितों की सूची में कुल मिलाकर 28 जातियां हैं, जबकि सवर्णों में कुल मिलाकर सिर्फ 4 जातियां हैं। सिर्फ 4 जातियों के बलबूते सवर्ण साहित्य पहले स्थान पर है। 28 जातियों के बलबूते दलित साहित्य दूसरे स्थान पर है, जबकि 109 जातियों के बलबूते ओबीसी साहित्य हाशिए पर है, जिसका स्वरूप समतामूलक एवं धर्मनिरपेक्ष है। कहने का मतलब यह है कि कुल मिलाकर 32 जातियों का साहित्य 109 जातियों के साहित्य की छाती पर ऐसे सवार है मानो रौंद देगा, जबकि ओबीसी साहित्य अत्यंत सशक्त है और विपुल मात्रा में उपलब्ध है। वास्तविकता तो यह है कि ओबीसी साहित्य सिर्फ अन्य पिछड़ा वर्ग का साहित्य नहीं है, बल्कि यह घृणा की श्रेणियों में विभक्त भारतीय समाज को मानवतावादी विचार प्रदान करने का साहित्य है।

(फारवर्ड प्रेस, जुलाई, 2011)

'ओबीसी विमर्श से मिला दलित आंदोलन को लाभ'

प्रसिद्ध मराठी दलित लेखक शरण कुमार लिंबाले से प्रेमा नेगी की बातचीत

प्रेमा नेगी – *बहुजन को आप किस तरह से परिभाषित करेंगे ?*

शरण कुमार लिंबाले – बहुजन यानी बहुत सारे लोग। जैसे उत्तरप्रदेश के संदर्भ में लें, बहुजन के लिए बहुजन समाज पार्टी अस्तित्व में आई। कांशीराम ने इसे राजनीतिक ढांचा देते हुए बाबासाहेब आंबेडकर के विचारों को मूर्त करने की कोशिश की। हिंदी पट्टी में बहुजन शब्द को परिभाषित-प्रचारित और स्थापित करने का श्रेय कांशीराम को ही जाता है। मराठी में बहुजन साहित्य को प्रचारित-प्रसारित करने के लिए सम्मेलन हो रहे हैं, हालांकि महाराष्ट्र में बहुजन साहित्य को लेकर जो लोग मुखर हैं, उनमें एससी, एसटी नहीं, बल्कि ओबीसी हैं। इसके लिए वहां लंबे समय से सेमिनार, सभा, गोष्ठियां आयोजित हो रही हैं। सम्मेलनों में बार-बार एक ही बात उठाई जा रही है कि बहुजन में सभी पिछड़ी, दलित जातियां आनी चाहिए। मंडल कमीशन के बाद से ही बहुजन साहित्य के लिए पहल हो चुकी थी। कांचा आयलैया जो ओबीसी तबके से आते हैं, उन्होंने इसके लिए बड़ी पहल की है। उनकी किताब 'मैं हिंदू क्यों नहीं' में जिसका उपशीर्षक 'हिंदुत्व दर्शन, संस्कृति और राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक शूद्रवादी विश्लेषण' है, पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू धर्म का हरेक आयाम सिर्फ दलित-बहुजन का उत्पीड़न करने के लिए ही है। इसे बहुजन विमर्श के एक दस्तावेज के रूप में लिया जाना चाहिए। इसी किताब में कांचा आयलैया महिला विमर्श को भी उठाते हैं, जब वो लिखते हैं कि विद्या की देवी सरस्वती होते हुए भी हिंदुत्व में औरतों के विद्यार्जन पर पाबंदी लगी रही और धन की देवी लक्ष्मी होने के बावजूद स्त्रियों को संपत्ति में अपने अधिकारों से वंचित रहना पड़ा है। महाराष्ट्र में तो दलित आंदोलन की शुरुआत सत्तर के दशक में पैंथर आंदोलन से ही हो चुकी थी, जबकि हिंदी पट्टी में दलित विमर्श बहुत बाद में आया और ओबीसी विमर्श तो अभी शुरुआती दौर में है।

प्रेमा नेगी – *दलित और स्त्री विमर्श के बाद अब ओबीसी विमर्श की जरूरत क्यों महसूस हो रही है?*

शरण कुमार लिंबाले – दलित और स्त्री विमर्श के बाद ओबीसी विमर्श की चेतना दलित आंदोलनों और साहित्य को मिली सफलता से उपजी है। फुले-आंबेडकर

से प्रेरणा लेकर आज ओबीसी विमर्श का एक नया दौर शुरू हो चुका है। फुले-आंबेडकर के विचार उन्हें दिशा देने का काम कर रहे हैं। महाराष्ट्र यानी मराठा साहित्य में ओबीसी ने दलितों के साथ मिलकर इस विमर्श का एक नया दौर शुरू कर दिया है। चूंकि आज ओबीसी समझने लगा है कि उन्हें सवर्ण सदियों से अपने हथियार के तौर पर इस्तेमाल करते आए हैं, इसलिए भी यह विमर्श आगे बढ़ रहा है। मंडल कमीशन से ओबीसी विमर्श को नई दिशा ही नहीं, बल्कि नया सुर और नया चेहरा मिला है। इसका बड़ा फायदा दलित आंदोलन को यह हुआ है कि अब ओबीसी दलितों के साथ मिल रहा है, जिससे प्रगतिशील ताकतों को भी दिशा मिल रही है। आजादी के बाद शिक्षा का प्रचार-प्रसार होने के कारण भी बहुत से समाजों के लेखक आए हैं। जहां तक बहुजन साहित्य की बात थी तो यह चेतना नहीं, आंदोलन का प्रारूप था, मगर मंडल कमीशन के कारण व्यापक पैमाने पर चेतना फैली। जैसे-जैसे ओबीसी शिक्षित होने लगे, उन्हें लगा कि व्यापक पहल के लिए आंदोलन जरूरी है। भारत की कुल आबादी का 60 फीसदी ओबीसी हैं, और आज वे अपनी ताकत को पहचान चुके हैं, इसलिए विमर्श तो स्वाभाविक है।

प्रेमा नेगी – *क्या कोई गैर दलित लेखक दलित पीड़ा को उसी तरह व्यक्त कर सकता है, जैसे कि दलित लेखक?*

शरण कुमार लिंबाले – गैर दलित लेखक दलितों की पीड़ा को जरूर व्यक्त कर सकता है, मगर मर्यादा के साथ। इसके पीछे कारण है कि वह सोचकर लिखता है। इसे आप दलितों-गैर दलितों द्वारा लिखे गए को पढ़कर महसूस कर सकती हैं। पिछले कई सालों से हिंदी से लेकर मराठी तक में दलितों को आधार बनाकर न जाने कितनी कहानियां, उपन्यास गैर दलितों द्वारा लिखे गए होंगे, मगर वह आभासी था। अब जो लेखन दलित कर रहे हैं, वह उनके अनुभव के आधार पर है, मगर साहित्य में इसे गलत ढंग से परिभाषित किया जा रहा है, उससे यह मैसेज जा रहा है जैसे दलित लेखक नहीं चाहते कि गैर दलित दलित विमर्श या उन्हें आधार बनाकर कुछ भी लेखन करें। ऐसे में एक सवाल यह भी है कि जब दलित अपनी पीड़ा को शब्द देने लगा है, तभी यह सवाल क्यों उठाया जा रहा है। इतिहास खंगालकर देखिए, तब दलितों के लिए क्यों नहीं लिखा गया, जब उन्हें हद दर्जे तक प्रताड़ित किया जा रहा था। मेरी समझ में नहीं आता तब कहां थे हमारे ये साहित्य के तथाकथित मठाधीश, जब दलित पीड़ा का दंश झेलने को मजबूर था और इनकी कलम से उसके पक्ष में एक शब्द भी नहीं लिखा जा रहा था। इनकी साजिश अब दलितों-गैर दलितों के बीच खाई को और गहरा करने की है।

प्रेमा नेगी – *दलित साहित्य में स्त्रियां अभी भी मुखरता से सामने नहीं आ पाई हैं?*

शरण कुमार लिंबाले – दलित साहित्य में स्त्रियां हाशिए पर इसलिए नजर आती हैं, क्योंकि सही मायनों में अभी तक दलित लेखिकाओं ने लिखना ही शुरू नहीं किया

है, हालांकि दलित महिलाएं अब मुखर होने लगी हैं, आगे और ज्यादा होंगी। अब नई पीढ़ी में लड़कियां लिख-पढ़ रही हैं, जाहिर तौर पर अपने समाज के दुःख-तकलीफों, शोषण-दलन के बारे में वो कलम भी चलाएंगी और नई पीढ़ी ऐसा कर भी रही है। यह भी सच है कि अभी तक दलित स्त्रियों का लेखन आत्मकथा से आगे नहीं बढ़ पाया है। दूसरी बात महिला हर जगह सिर्फ महिला है। जातियां सिर्फ पुरुषों के लिए बनी हैं, ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूं, क्योंकि दलित पुरुष भी तो इसी पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था का ही प्रतीक है और वह भी महिला को उसी तरह प्रताड़ित करता है, जिस तरह सवर्ण जातियों के पुरुष।

प्रेमा नेगी – *कुछ लोग ओबीसी को सिर्फ राजनीतिक कैटेगरी बताते हैं?*

शरण कुमार लिंबाले – बहुजन एक राजनीतिक कैटेगरी है और दलित भी राजनीतिक कैटेगरी ही है, जबकि सवर्णों का साहित्य सिर्फ राजनीतिक नहीं है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि हम परंपरा, जाति, जड़ता, असमानता, कुरीतियों के खिलाफ आवाज उठा रहे हैं। हमारा साहित्य लेखन समतामूलक समाज के निर्माण के लिए रचा जा रहा है, जो निश्चित तौर पर राजनीतिक कैटेगरी में ही आता है। पिछड़े सिर्फ साहित्य नहीं रच रहे हैं, बल्कि एक उद्देश्य के साथ लेखन कर रहे हैं।

प्रेमा नेगी – *साहित्य को अलग-अलग जातियों-खेमों में विभाजित करने से लोकतांत्रिक मूल्यों पर क्या असर पड़ेगा?*

शरण कुमार लिंबाले – ये सब सवाल सिर्फ सुनने में अच्छे लगते हैं। यथार्थ के धरातल पर उतरकर देखो तो कहीं से यह सवाल तर्कसंगत नहीं लगता। आज दलित लेखक जाति व्यवस्था को नकार रहे हैं, मगर फिर भी उनके साहित्य को दलित-पिछड़ा साहित्य कहनेवाले कौन लोग हैं? साहित्य को जातियों-खेमों में विभाजित करने का काम दलितों ने नहीं, बल्कि सवर्णों ने किया है। साहित्य खेमों और जातियों में न बंटे, इसके लिए सबको मिलकर काम करना होगा, मगर ऐसा होता नहीं दिखता। हम जाति-व्यवस्था के खिलाफ बात कर रहे हैं, तो हम पर ठप्पा जरूर लग रहा है।

प्रेमा नेगी – *बहुजन साहित्य की अवधारणा को विकसित करने के तहत एक ही छतरी के नीचे शूद्र, अतिशूद्र, महिला और आदिवासी साहित्य को लाए जाने की पहल को आप किस रूप में देखते हैं?*

शरण कुमार लिंबाले – इसमें कोई शक नहीं है कि यह बहुत ही अच्छी पहल है और इसका स्वागत किया जाना चाहिए। मेरा और बहुत सारे चिंतकों का मानना है कि शूद्र, अतिशूद्र, महिला और आदिवासियों की पूरी त्रासदी एक ही है, मगर जहां तक इन सबको बहुजन साहित्य के नाम पर एक ही छतरी के नीचे लाए जाने का सवाल है तो

यह एक आदर्शवादी स्थिति है, क्योंकि सांस्कृतिक स्तर पर बहुत सी भिन्नताएं मौजूद हैं। जैसे आदिवासियों को बहुजन में शामिल करने का सवाल है तो उनकी स्थिति बाकी सबसे एकदम अलग है, हां यह बात और है कि उन्हें शोषित करनेवाला पूंजीवादी तंत्र है। भिन्नताओं का कारण हायरार्की भी है, स्थितियां एक दिन में नहीं बदलेंगी। इसे इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि छोटे-छोटे पौधों का विकास एक बड़े पौधे के नीचे होना संभव नहीं है। उन्हें अलग से पूरी देखभाल की जरूरत होती है। उसी तरह शूद्र, अतिशूद्र, महिला, आदिवासी सब अलग-अलग धाराएं हैं। जब ये स्वतंत्र हो पूरे तौर पर विकसित हो जाएंगी, तो इन्हें एक ही छतरी के नीचे लाए जाने की बात की जानी चाहिए, मगर अभी तक तो इन सबको मौके ही नहीं मिले हैं, इसलिए ये जिस तरह भी सामने आ रहे हैं, विकास कर रहे हैं, अन्याय के खिलाफ मुखर हो रहे हैं, इन्हें उसी हाल में छोड़ देना चाहिए। सबसे बड़ी बात है कि इनका मौन टूट रहा है, जिससे एक नए समाज का निर्माण होगा। नए तेवरों के साथ-साथ हर धारा में से नायक मिल रहे हैं, दायरा व्यापक हो रहा है। मुझे लगता है कि क्षितिज बढ़ रहा है। एक तरह से यह जनतंत्र को सशक्त करने की पहलकदमी भी है।

प्रेमा नेगी – *कबीर को खंडन-मंडन का कवि कहकर उनकी न्यायसंगत और वस्तुपरक समीक्षा-आलोचना न किए जाने का आरोप हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन पर लगता रहा है, इसलिए उनके तर्कसंगत मूल्यांकन के लिए ओबीसी आलोचना की जरूरत बताई जा रही है, आपकी इस बारे में क्या राय है?*

शरण कुमार लिंबाले – यह बात सही है, मगर कबीर बहुत पुराने कवि हैं। इसी तरह प्रेमचंद भी पुराने हैं। उनके आधार पर आज के ओबीसी साहित्य का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। यह आधुनिक बहुजन साहित्य है, इसलिए कबीर को इसका पैरामीटर कैसे निर्धारित किया जा सकता है ? हां, इतिहास के संदर्भ में कबीर की समीक्षा-आलोचना जरूर की जानी चाहिए। जहां तक पिछड़ों के साहित्य की बात है तो यह आजादी के बाद का है, कबीर तो उससे बहुत पुराने हैं। कबीर महान हैं, उनकी चर्चा होनी चाहिए, मगर ओबीसी साहित्य के संदर्भ में मुझे यह ठीक नहीं लगता। आंबेडकर ने भी कहा है कि मेरे तीन गुरु हैं; बुद्ध, कबीर और जोतिबा फुले। मगर मुझे कबीर बहुत प्रभावित नहीं करते। कबीर वस्तुतः आध्यात्मिक चिंतक थे, मगर हम दलित-ओबीसी चिंतक हैं। इसी तरह स्त्री विमर्श आध्यात्मिक नहीं, राजनीतिक है। बहुजन साहित्य भी आध्यात्मिक नहीं है, अपने हको-हकूक, दमन, दलन के बारे में लेखक लिख रहे हैं। मेरा मानना है कि आज के बहुजन लेखकों को कबीर के साथ जोड़ना कबीर पर अन्याय नहीं, बल्कि बहुजन लेखकों के साथ अन्याय होगा। आज के परिप्रेक्ष्य में हमें बहुजन साहित्य को वृहद् करने के साथ उसकी समीक्षा करनी है, कबीर क्या कहते हैं, इससे तुलना नहीं करनी चाहिए। हमेशा बहुजन विमर्श को बुद्ध, कबीर तक सीमित कर विमर्श को गुमराह-भटकाने

का काम किया जाता है। आज ओबीसी समाज से जो लेखक आ रहे हैं, उनके अपने शब्द ही सबसे बड़ा हथियार है।

प्रेमा नेगी – *भारत के आधुनिक युग की शुरुआत करनेवाले दो महत्त्वपूर्ण नाम जोतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले हैं, जिन्होंने जाति व्यवस्था और ब्राह्मणवादी जड़ता का विरोध करते हुए किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार का समर्थन किया, मगर हिंदी साहित्य और आलोचना के इतिहास में प्रगतिशील लेखकों की अच्छी-खासी तादाद के बावजूद उनके लेखन में इन दोनों की अनुपस्थिति को कैसे देखते हैं?*

शरण कुमार लिंबाले – हिंदी साहित्य में फुले दंपत्ति की न के बराबर मौजूदगी का बड़ा कारण है कि हिंदी आलोचना ज्यादा से ज्यादा आध्यात्मिक रही है। वह तुलसी, सूर, कबीर - यानी, हिंदू धर्म की कक्षा में ही घूमती रही है। मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि आखिर हिंदी साहित्य के लिए चिंतित आलोचक-समीक्षक न जाने कब पुराने आध्यात्मिक गुरुओं को छोड़ेंगे। इक्कीसवीं सदी में भी अछूत मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकता, यह इनकी चिंता का विषय नहीं रहता। इतिहास और संस्कृति एक तरीके से शोषण के हथियार हैं। आजादी के बाद नए भारत का निर्माण हो रहा है, मगर हमारे हिंदी लेखक गैरजिम्मेदार हैं। नया स्वाधीन भारत स्वाधीन संस्कृति के निर्माण में नाकाम रहा है। हालांकि मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता, फि र भी मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि हिंदी को कबीर और प्रेमचंद से अब मुक्ति दें। हिंदी साहित्य-संस्कृति आदर्श को बढ़ावा देनेवाली रही है। नई सोच को लेकर कोई बात नहीं की जाती। हमारे आलोचकों-समीक्षकों को आज की समस्याएं ही मालूम नहीं हैं, इसलिए नया विमर्श भी नहीं है। हिंदी आलोचकों का कद और दिमाग दोनों बहुत छोटे हैं। ये सांस्कृतिक प्रश्नों की बजाय इतिहास और परंपरा के पीछे भागते हैं। मैं इन्हें सिरे से खारिज करता हूं। अब दलित, आदिवासियों, महिलाओं के बीच से नए आलोचक आने चाहिए।

प्रेमा नेगी – *हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्ति, प्रगतिशील और नई कहानी आंदोलन को मुख्यधारा का साहित्य माना गया, मगर दलित, स्त्री और आदिवासी साहित्य सामाजिक न्याय और समतामूलक समाज की नींव रखनेवाला होते हुए भी अभी तक हाशिए पर है। इसका क्या कारण मानते हैं?*

शरण कुमार लिंबाले – भक्ति आंदोलन हो या प्रगतिशील या फिर नई कहानी आंदोलन, ये सब मुख्यधारा नहीं, बल्कि सवर्णों के आंदोलन हैं। क्या मुख्यधारा का मतलब ब्राह्मण ही होता है? मैं तो कहता हूं कि इन्हें मुख्यधारा का आंदोलन माने जाने की परिभाषा ही गलत है। चूंकि आज तक साहित्य में सिर्फ सवर्णों का ही वर्चस्व था, मगर आज लेखक बदले हैं, जाति बदली है, साहित्य की जाति बदली है, चिंतन की जाति बदली है। जनतंत्र के बाद हजारों सालों की जड़तावादी संस्कृति टूटी है, ब्राह्मणों के अधिकार छीने गए हैं, इसलिए मेनस्ट्रीम और बैकस्ट्रीम की बातें हो रही हैं। होना तो

यह चाहिए था कि जो अन्य ने लिखा है, उसे मुख्यधारा कहा जाए। आज तक जिसे भी मुख्यधारा का साहित्य कहा गया, उसे मैं कठघरे में खड़ा करता हूं। वह जाति का स्ट्रीम है। मुख्यधारा भूलभुलैया है, सवर्ण मानसिकता है। इसमें पुरानी परंपराओं और गलत चीजों को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया है। जब सिर्फ एक जाति को ज्ञानार्जन का अधिकार प्राप्त था, इसलिए उसे मेनस्ट्रीम घोषित कर दिया गया। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के बाद विभिन्न तबकों से लेखकों का उदय हुआ है, वर्चस्व के गढ़ टूटे हैं, तो इन मठाधीशों की चूलें हिल रही हैं। यहां मेरा मतलब सभी ब्राह्मण लेखकों को सांप्रदायिक घोषित करना नहीं है। मैं ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ हूं, प्रगतिशील ब्राह्मणों के नहीं। प्रगतिशील विचार की मर्यादा है। उसने जाति की सीमा नहीं लांघी। ऐसे मेनस्ट्रीम की मैं कोई जरूरत नहीं समझता, न ही इसे कोई महत्त्व देता हूं। जब वाकई मेनस्ट्रीम बनेगा तो दलित, स्त्री, आदिवासी सबको एक छत के नीचे आना होगा।

प्रेमा नेगी – *हिंदी और मराठी साहित्य की दलित चेतना में किस तरह का अंतर है?*

शरण कुमार लिंबाले – हिंदी और मराठी लेखकों में काफी भिन्नताएं हैं। मराठी लेखक आंदोलन से जुड़ा है, इसलिए आक्रामक है, मगर हिंदी लेखक सिर्फ सरकारी नौकर और मुख्यधारा के साहित्यवाली मानसिकता से बुरी तरह ग्रस्त है। हिंदी साहित्य में विद्रोह उस तरीके से आक्रामक नहीं है, जिस तरह से मराठी में है। न ही हिंदी में मराठी की तरह दलित आंदोलन को स्वर मिला है। दूसरा हिंदी लेखक को राजधानी से नजदीक होने का भी काफी फायदा मिलता है, जबकि हमें एक लंबा संघर्ष करना पड़ता है, यहां तक कि किताब छपवाने तक के लिए एक संघर्ष से गुजरना पड़ता है। इसे आप एक उदाहरण से समझ सकते हैं कि ओमप्रकाश वाल्मकि ने सिर्फ 'जूठन' लिखकर हिंदी पट्टी में काफी प्रसिद्धि पा ली, मगर मैं सौ के लगभग किताबें लिखने के बाद अब हिंदी में पहचाना जाता हूं।

प्रेमा नेगी – *बहुजन साहित्य की नींव रखने में कबीर, फुले, गांधी, भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है, मगर स्त्री मुक्ति के सवाल पर फुले निर्विवाद मान्य हैं, जबकि अन्य सवालों के घेरे में रहते हैं, ऐसे में स्त्री मुक्ति का आकांक्षी स्त्री विमर्श इन विचारकों से कहां तक सहमत होगा?*

शरण कुमार लिंबाले – ये व्यापक रूप से पोलिटिकल एजेण्डा रखनेवाली बात है। निश्चित तौर पर ये सभी प्रेरणास्तंभ रहे हैं, मगर जहां तक स्त्री विमर्श का सवाल है, इस मामले में मैं फुले-आंबेडकर को ही दिशा-निर्देशक की भूमिका में पाता हूं। फुले ने स्त्री मुक्ति को लेकर जो काम किया है, वह आज किसी पहचान का मोहताज नहीं है। यह बात अलग है कि हिंदी पट्टी में उनके बारे में लोग बहुत कम जानते हैं, क्योंकि हिंदी साहित्य ने उन्हें कभी गंभीरता से लिया ही नहीं।

(फारवर्ड प्रेस, मई, 2014)

'ओबीसी साहित्य जैसी कोई चीज नहीं, लेकिन विमर्श हो'

(राजेंद्र यादव, संजीव व संजय सहाय से बातचीत)

मासिक पत्रिका हंस के 25 साल पूरे होने के अवसर पर फॉरवर्ड प्रेस के सलाहकार संपादक प्रमोद रंजन व मुख्य संपादक आयवन कोस्का ने हंस के संपादक राजेन्द्र यादव और संजीव से विभिन्न मुद्दों पर बातचीत। इस मौके पर हंस कार्यालय में मौजूद कथाकार संजय सहाय ने भी बातचीत में शिरकत की। बातचीत का संपादित अंश।

***प्रमोद रंजन** – राजेन्द्रजी, हंस के 25 वर्ष पूरे होने जा रहे हैं, सबसे पहले तो आपको बधाई! जानना चाहूंगा कि हंस की शुरुआत कैसे हुई?*

राजेन्द्र यादव – देखिए कोई भी लेखक होता है, उसकी दो इच्छाएं होती हैं। एक तो यह कि वह जो लिखे, वह छपे और दूसरी यह कि उसका अपना पब्लिशिंग हाउस हो और उसे रॉयल्टी मिले। हमने दोनों एक्सपेरिमेंट किए। पच्चीस साल से अक्षर प्रकाशन चल रहा है। उस समय के बड़े से बड़े लेखक, चाहे वो रामविलास शर्मा हों, अज्ञेय हों या प्रेमचंद हों, सभी को हमने छापा। उनकी पहली किताबें जैसे राही मासूम रज़ा का स्याही का कागज़, आधा गांव, रघुवीर सहाय का आत्महत्या के विरुद्ध आदि। इस प्रकार अनेक कृतियां छापीं, लेकिन जिस उद्देश्य को लेकर हमने इसे शुरू किया था, वह पूरा नहीं हुआ, क्योंकि उसका बिज़नेस करना हमारे बस का नहीं था। वह पैसा तभी दे सकता था, जब हम उसके बिज़नेस को संभाल लेते, वह हम नहीं कर पाए, लेकिन हमारे कुछ उत्साही मित्र थे, जो छोटी-मोटी नौकरियां करते थे। यहीं (दरियागंज, नई दिल्ली के) पास में एक जगह है, जहां उनके साथ बैठकर हम मीटिंग करते थे। हर बुधवार को हम मिलते थे। उसमें जैन लोग थे। उसमें था कि हम हंस के लिए मिल रहे हैं, हंस की योजना बनाएंगे, पर सिवा हंस के सब बातें होती थीं, जैसे दिल्ली में अच्छी चाट कहां मिलती है, जलेबी कहां है, मंगाओ। दही बड़ा कहां का अच्छा है, कबाब कहां के अच्छे हैं। जैन लोग थे, पर उसमें से एकाध कबाब आदि खाते थे। अच्छी से अच्छी दारू पीते थे। चार साल तक हम यही करते रहे। हमको लगा कि ये नहीं करनेवाले।

उनमें हमारे एक बहुत करीबी मित्र थे टी. एम. ललानी। वो बिरला की कंपनी ऑटो-मोटर्स में नौकरी करते थे और साहित्य बहुत पढ़ते थे। क्रिकेट, संगीत, इतिहास, जातिवाद और भाषाओं के बारे में बहुत ज़्यादा जानते थे, मतलब हरफ़नमौला थे। वे चीजों को बड़ी गहराई से पढ़ते थे। उनकी यह बेचैनी थी कि पत्रिका निकले। हमको लगा कि यह सज्जन बहुत एम्बीशियस हैं। ये हमको हमारी तरह की पत्रिका नहीं निकालने देंगे। अगर साथ आ भी गए तो परेशानी पैदा करेंगे। तो उन्होंने गुस्से में आकर एक दूसरी कंपनी बना ली – पंथ प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड। हममें से ही उनके सलाहकार-वलाहकार तय हुए। पांच लोगों ने मिलकर पंथ खोली। उन्होंने कहा कि हम अपनी मैगजीन कंस निकालेंगे। ये बातचीत भी चलती रही। इसी बीच हमारे एक और दोस्त थे हरि प्रकाश शर्मा, जो बाद में कनाडा रहने चले गए थे। बहुत अच्छे कहानीकार थे, उनकी पहली कहानी 'वापसी' सन् 1963 में धर्मयुग में छपी थी और खूब मशहूर हुई थी। वे कभी लंदन गए होंगे, जहां उनकी दोस्ती गौतम नवलखा से हो गई, जो अब बड़े सोशल वर्कर हैं, अक्सर टी.वी. पर आते हैं और इपीडब्ल्यू के सलाहकार मंडल में शामिल हैं। गौतम नवलखा एक बड़े बाप के बेटे थे। बाप मारवाड़ी थे, मगर बड़े अभिजात किस्म के मारवाड़ी। उनके पिताजी कुशल बिज़नेसमैन थे और बेटा बिज़नेस में नहीं आना चाहता था। सेंट स्टीफ़ंस, दिल्ली और लंदन से पढ़ा हुआ, स्वीडिश लड़की से शादी की। वह यहां आकर कुछ बौद्धिक काम करना चाहता था। हरी प्रकाश ने उनसे बात की, दोनों यहां आए और तय हुआ कि पत्रिका निकालेंगे।

लेकिन उनके पिताजी ने कहा मैं सिर्फ पांच लाख रूपये दूंगा। यह सन् 1986 की बात है, सन् '86 में पांच लाख रूपये बहुत हुआ करते थे और उन्होंने कहा, इसमें आप पत्रिका निकाल सकते हैं तो निकालिए नहीं तो बंद कर दीजिए, तो हमने और गौतम नवलखा ने मिलकर हंस नाम की पत्रिका शुरू की।

प्रमोद रंजन – *आपके संपादकीय काफी पसंद किए जाते हैं। मेरी दुनिया को देखने की तो समझ ही उससे बनी है। एक दूसरा सवाल, मैं संजय सहाय जी से भी पूछना चाहूंगा कि समय के साथ-साथ विधाएं बदलती रहती हैं। पहले महाकाव्य, खण्डकाव्य थे, क्या ऐसा नहीं लगता कि आज जो कहानी और कविता की विधाएं हैं, वे अप्रासंगिक हो गईं हैं? सभी लोग संपादकीय अधिक ढूंढ रहे हैं, अर्थात् वैचारिक लेखन की मांग बढ़ी है और रचनात्मक साहित्य की प्रासंगिकता खत्म हो गई है, क्या आपको ऐसा लगता है?*

संजय सहाय – मुझे ऐसा नहीं लगता, क्योंकि जैसा कि अभी बात की गई, हंस के दो पहलू हैं – एक पहलू, जो समाजिक मुद्दों को लेकर है, और तमाम सामाजिक पहलू। हंस ने उन सभी मुद्दों को उठाकर समाज और पाठकवर्ग को झकझोरने का काम किया है। आप तिलमिला जाते हैं। आपकी बनी-बनाई अवधारणाएं

अचानक टूटती और बिखरती हुई दिखाई देती हैं। आपको दुःख होता है, लेकिन बाद में आप सोचने के लिए मजबूर भी होते हैं, क्योंकि हंस उस बहस को शुरू करता है। मैं तो मानता हूं कि पिछले 20–25 सालों में इस देश का जो बौद्धिक विकास हुआ है, उसमें बहुत बड़ी सशक्त और महत्त्वपूर्ण भूमिका हंस की है। अगर हंस नहीं होता और राजेन्द्रजी की सोच नहीं होती तो ये बनी-बनाई मान्यताओं, अवधारणाओं को तोड़कर देखने का जो साहस है, वह नहीं आ पाता। यह एक पहलू है।

दूसरा, वही तमाम लेखक पांच–छह मैगजीन में पैरलली छप रहे हैं तो इससे संभव है कि उसकी जो रचना हंस में आई हो और उससे बेहतर कोई रचना किसी दूसरी पत्रिका में चली गई हो। यह बिलकुल संभव है, लेकिन उसकी वजह से आप हंस की कहानियों को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते। जो कहानियां उन बहसों को जन्म देती हैं, उठाती है या उनसे प्रभावित होकर जो कहानियां बनती हैं, वे कहानियां भी रहती हैं और कलात्मक कहानियां बनती हैं, वे कहानियां भी हंस में रहती हैं। हंस ने कविताओं को ही थोड़ा कम छापा है। निष्कर्षतः यह कि मुझे ऐसा नहीं लगता कि कहानी विधा अप्रासंगिक हो गई है।

राजेन्द्र यादव – कमिटमेंट तो कथा से है, वो हमने निभाया और एक बड़ी हास्यास्पद स्थिति यह है कि आज भी, 25 साल बाद, मैं किसी दूसरी पत्रिका में कहानी पढ़ता हूं तो मालूम होता है कि इसे तो मैं पढ़ चुका हूं। वह हमारे यहां से ही गई है। मतलब आज भी लेखकों की प्राथमिकता हंस है।

संजीव – प्रमोदजी, आपकी बात सही है। जो मुद्दा आपने उठाया, वह सही है। राजेन्द्रजी ने भी, हमने कभी बात की थी तो इसकी ओर इशारा किया था कि क्या बात है, पाठकवर्ग सोशल डिसकोर्सिस में ज़्यादा इंट्रेस्ट ले रहा है और कहानी में कम। दो-तीन बातें, जो मुझे समझ में आ रही हैं, वो ये कि पैरलल टू हंस ये जो इलेक्ट्रॉनिक मीडिया है, उसमें दो-तीन कहानियां चलती रहती हैं। बौद्धिक स्तर पर वे निचले दर्जे की जोड़-तोड़ कर बनाई गई कहानियां हैं, लेकिन मनोरंजन के लिहाज़ से वह मान्य हैं और जो कलात्मक चीज़ें होती हैं, वह बहुत कम देख पाते हैं।

क्या है कि मनुष्य के पास 24 घंटे का ही समय होता है और वह मनोरंजन प्रधान कहानियों में अधिक रुचि लेता है। तो पहले की कहानियां या 1970 के दशक की कहानियां यहां नहीं हैं जो आपको छीनकर वापस ले आएं। शायद 70 या उस समय की कहानियों में ज़्यादा पोटेंशियल था और आजकल की कहानियां लचर भी हो जाती हैं। क्योंकि हमारे पास औसत पैरामीटर से ऊपर की कहानियां होती हैं, लेकिन कभी-कभी यह दिक्कत होती है कि क्या रखा जाए, क्या छोड़ा जाए। जैसे संजयजी, उदय प्रकाश और सारा रेड्डी की कहानियों के संदर्भ में हुआ है और सोशल डिसकोर्सिस में भी बहुत सारे डिसकोर्सिस हो गए हैं, क्योंकि हर आदमी बोलना चाहता है। भले ही कला के उस फॉर्म में नहीं बोल सकता, सीधे-

सीधे बोलना चाहता है। डाइरेक्ट बोलने की बात सामने आई और कला की दुनिया से लोग खिसके हैं, ये मैं मानता हूं।

प्रमोद रंजन *– हंस को श्रेय जाता है कि उसने हिंदी में दलित-विमर्श शुरू किया, लेकिन प्रेमकुमार मणि ने कहीं कहा है कि दलित साहित्य शिड्यूल कास्ट लिटरेचर बनकर रह गया है। आपको लगता है कि ऐसा है?*

राजेन्द्र यादव – हम मानते हैं कि दलित हैं, जिन्हें कभी बोलने का अभ्यास नहीं रहा या बोलने नहीं दिया गया। वे पहली बार बोलना शुरू कर रहे हैं। पहले हम ही उनकी तरफ़ से बोलते थे। प्रेमचंद ने दलितों पर कई कहानियां लिखी हैं और बहुत से लेखकों ने ऐसा किया है। अब दलित खुद बोल रहे हैं तो मध्यमवर्ग का संतुलन थोड़ा डगमगाता है।

संजीव – आप जो प्रेमकुमार मणि को प्वाइंट आउट कर रहे हैं वह सही प्वाइंट आउट कर रहे हैं। पहली बार अपने को अभिव्यक्त करने की भूख, तड़प दलितों में दिखाई देती है। उन्होंने जो पीड़ा भोगी है, उससे वे अब उबर रहे हैं। अभी हमारे पास ओमप्रकाश वाल्मीकि की एक कहानी आई है। बहुत से लेखक जैसे प्रेमचंद सिर्फ़ दलितों की कहानियों पर कॉनसनट्रेट कर जाएं ऐसा नहीं है, हम सोचते हैं जैसे अजय नावरिया हैं, जिनमें सामर्थ्य है, कौशल है, उन सभी पीड़ाओं और संघर्षों को अच्छी भाषा में लिखने की और जो केवल वहीं तक सीमित नहीं रह सकते, तो क्यों न वह अपना दायरा बढ़ाएं और क्यों न पूरे समाज के परिप्रेक्ष्य में उसे चिह्नित करें। एकांगी चित्रण क्यों करें? आप जो प्रेमकुमार मणि जी की बात कह रहे हैं, वह ठीक है, लेकिन अब दलित लेखक उससे उबर रहे हैं। उन्होंने जो यह सीमा बांधी है कि एक दलित ही दलित साहित्य का सृजन कर सकता है, यह गलत है। मैं आपको एक उदाहरण देता हूं, लेकिन संदर्भ थोड़ा-सा अलग है। जैसे नारियों के बारे में कहा जाता है कि कोई नारी ही नारी साहित्य का सृजन कर सकती है, यह भी गलत है। अभी हमारे पास एक कहानी आई है 'जन्म', जो कि लेखक स्वयं प्रकाश की है। नारी विमर्श पर उससे अच्छी कहानी मैंने नहीं देखी। इसमें एक औरत एक बच्चे को जन्म दे रही है, एक स्त्री एक बच्ची को जन्म देते हुए दुःख और मर्मांतक यंत्रणा सहती है। वह इतनी असहनीय है कि उस बच्चे से कहती है कि मर जा। कहानी में बच्चा पैदा होने की पूरी डिटेल है और उसे किसी स्त्री ने नहीं, अपितु पुरुष ने लिखा है। इस प्रकार बांधा गया दायरा एक कट्टरता है और यह कट्टरता धीरे-धीरे अब पिघल रही है, जो कि शुभ संकेत हैं।

राजेन्द्र यादव – एक चीज़ बताऊं? सिमोन द बउवा की एक किताब है द सेकेंड सेक्स, प्रभा खेतान ने उसका हिंदी अनुवाद भी किया है। उसमें एक चैप्टर है, जो बहुत आई ओपनर है ... 'द मिथ ऑफ वुमन' में वह कहती हैं कि लेखकों ने औरतों के अद्‌भुत चित्रण किए हैं। इनकी हिरोइन लिटरेचर की बहुत बड़ी स्टालवार्ट मानी जाती है। बट अनफॉरचुनेटली इनमें से कोई नहीं जानता कि औरत

क्या है? यह अपनी तरफ़ से औरत को देख रहे हैं, विद देयर आईज़। तो ऐसा है जैसे हम लोगों ने चित्रलेखा, आम्रपाली, एक से बढ़कर एक औरतें बनाईं हैं, तो क्या सचमुच वे औरतें उन सबको प्यार करती हैं, ईमानदारी से देखिए। क्या उनको लगता है कि वह उनका अपना सपना है। उनको लगता है कि पुरुषों के ड्रीम्स बहुत हैं, वे अपना ड्रीम्स बनाते रहें। उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

आयवन कोस्का *– जब मैं 2007 में भारत वापस आया तो छह महीनों के भीतर ही मुझे नासिक में दूसरे अखिल भारतीय ओबीसी साहित्य सम्मेलन का आमंत्रण मिला। पहला सम्मेलन 2006 में पुणे में हुआ था, जो मनुस्मृति के जलाए जाने के साथ शुरू हुआ था। कहने को वह 'अखिल भारतीय' था, लेकिन था लगभग 99 फ़ीसदी शुद्ध मराठी। वहां साहित्य के बारे में तो बात न के बराबर ही हुई। मैं आपको हकीकत बता रहा हूं। अगर आप इसे 'साहित्य सम्मेलन' कह रहे हैं तो उसमें 'साहित्य' कहां है, फ़ोकस कहां है? कोई फ़ोकस नहीं है। इसलिए 2008 से लेकर अब तक मेरा सवाल यही है: जिस तरह से दलित साहित्य है, जिसे आवाज़ मिली और जिसने दलित चेतना और पहचान को आकार देने में मदद की, यह मेरा विश्लेषण है, क्या ओबीसी साहित्य जैसी कोई चीज़ भी है, खासतौर पर हिंदी में और खासतौर पर मंडलोत्तर युग में?*

राजेन्द्र यादव – मुझे नहीं लगता कि ओबीसी साहित्य नाम की कोई चीज़ है!

संजीव – हां, इस प्रकार का एक सवाल आया है। पिछली बार मीडिया से एक खत आया था और उन्होंने कहा था कि हम आ जाएं? ... क्या ओबीसी लिट्रेचर हो सकता है? हमने कहा, आपने कहां से पढ़ा? उन्होंने कहा, आपके हंस से। मुझे थोड़ी हंसी भी आई। हमने कहा, आप जब जी में आए, मुद्दा उछाल देते हैं। ऐसा कुछ नहीं है और न ही ऐसी कोई चीज़ अस्तित्व में है। हां, दलित साहित्य है।

प्रमोद रंजन *– राजेन्द्रजी, आयवन कोस्का के प्रश्न से एक सवाल और उठता है। अभी हम हिंदी साहित्य को दो तरह से देखते हैं, एक तो दलित साहित्य है और दूसरा मुख्यधारा का साहित्य है और तीसरा कोई साहित्य है नहीं। इस दृष्टि से हम दलित साहित्य के अंतर्गत पुरानी रचनाओं को भी चिह्नित करते हैं, जैसे हीरा डोम की रचना है। मतलब यह दलित साहित्य है और यह दलित साहित्य नहीं है। तो राजेन्द्रजी, क्या ऐसा लगता है कि एक तरफ दलित साहित्य है और दूसरी तरफ ब्राह्मणवादी साहित्य है?*

राजेन्द्र यादव – सारा ब्राह्मणवादी साहित्य है।

प्रमोद रंजन *– तो फिर मैला आंचल क्या है?*

राजेन्द्र यादव – क्या! सवाल यह नहीं है कि ब्राह्मणवाद सीधा दिखाई दे, लेकिन उस फ्रेम वर्क में है।

प्रमोद रंजन *– मेरा सवाल शूद्र, बहुजन, ओबीसी साहित्य के बारे में है। अगर एक तरफ़ दलित साहित्य है और दूसरी तरफ़ ब्राह्मणवादी साहित्य है, तो मैला आंचल*

जैसी रचनाओं को हम कहां रखेंगे?

राजेन्द्र यादव – सुनिए ... सुनिए ... दलित साहित्य नया है, अलग आइडेंटिटी का है, जबकि ब्राह्मणवादी साहित्य संस्कार बनकर आता रहा है। उसको अलग से भी प्वाइंट आउट कर सकते हैं, लेकिन जब हम वर्ण व्यवस्था देखते हैं कि पंडित है, ब्राह्मण आदि, तो इस तरह का साहित्य ब्राह्मणवादी साहित्य है और जब हम पुरुष वर्चस्व देखते हैं, परिवार में मालिक कौन है, तो उसके हिसाब से चलते हैं। यानि कि ब्राह्मणवादी ऐसा कुछ नहीं है, वह तो बस लक्षण है, जैसे पुरुष वर्चस्व में है। परिवार का जो ढांचा है, कंसट्रक्ट है, वह है और हिंदुस्तान में बिना जाति के कोई आदमी नहीं रह सकता। उसकी कोई न कोई जाति होगी और जिनकी जाति नहीं है, हम तरह-तरह से जानने की कोशिश करते हैं कि उनकी जाति क्या है और तब दिमाग में उसकी प्लेसिंग करते हैं। तो ये जाति दिमाग में घुसी हुई है, यही ब्राह्मणवाद है।

संजीव – राजेन्द्रजी ने जिस ढंग से डिफ़ाइन किया है, थोड़ा-सा मुझे उसमें कनफ़्यूज़न होता है, क्योंकि जो भक्तिकाल है, उसमें सगुण पंथियों को छोड़कर ज़्यादातर निर्गुणपंथी जो थे, वे सब ओबीसी या दलित थे। उससे पहले कुछ लोग सिद्ध संप्रदाय में भी थे। इस तरह का मिला-जुला मामला था और उसमें ब्राह्मणों, रुढ़ियों और कर्मकांडों के लिए तिरस्कार था, लेकिन कभी भी हमने उसे ओबीसी का साहित्य नहीं कहा। इसमें नाई, कुम्हार, रंगरेज़ आदि तरह के लोग थे। यह इसलिए था, क्योंकि उन लोगों को अपनी सत्ता स्थापित करनी थी। जिस तरह उन्हें दबा दिया गया था, उसी माध्यम से वह उठ सकते थे। इस तरह से उसका जो हश्र होना था, वह हुआ।

राजेन्द्र यादव – नहीं, देखिए ... अपने यहां दो और हैं, एक तो संत साहित्य है और दूसरा भक्ति साहित्य, जिसमें सब भक्त हैं, ये बड़े मठों और मंदिरों से जुड़े थे। अलग-अलग मठों और स्कूलों से जुड़े थे और जो यह संत साहित्य है, जनरली कॉमन साहित्य है। इसकी बहुत बड़ी वजह है। इसकी बहुत बड़ी वजह है कि उनको मंदिरों में तो आने नहीं दिया जाता था। इसलिए ये मजबूर थे निर्गुण साहित्य के लिए। सगुण साहित्य इसके परिचय या ढांचे में नहीं था।

संजीव – इनके भगवान की कोई जाति नहीं थी और उनके भगवान की जाति थी।

राजेन्द्र यादव – इसलिए इनके भगवान का जो पूजा-पाठ है वह निर्गुण ज़्यादा है। उसमें मूर्ति कम है। मीरा के पास मूर्ति है, लेकिन उसमें भी मूर्ति से ज्यादा मूर्ति के प्रति समर्पण है। कृष्ण का नाम लेती है, लेकिन उसकी अपनी भावना प्रधान है। एक जिद दिखाई देती है, जो यह संत साहित्य है, उसकी सोच सामान्य लोगों में भी है। मुसलमान हैं, रंगरेज़ हैं, कुम्हार हैं आदि। वह काम के साथ भी साहित्य करते हैं। वक्त-बेवक्त वे कपड़ा भी बुन रहे हैं और साहित्य भी कर रहे हैं। यही एक बहुत बड़ा फ़र्क है जो दोनों में दिखाई देता है।

प्रमोद रंजन *– मैं संजीवजी की बात से थोड़ा अस्पष्ट हूं, उन्होंने कहा कि मध्यकाल को हमने शूद्र साहित्य नहीं कहा। वास्तव में वह मुख्यधारा का साहित्य था। साहित्य में कोई भी आंदोलन हुआ तो मुख्यधारा का आंदोलन बना। उदाहरण के तौर पर अपने प्रगतिशील आंदोलन, नई कहानी आंदोलन या किसी भी आंदोलन को देख लें, लेकिन दलित साहित्य आंदोलन हाशिए का आंदोलन है। दलित साहित्य के समर्थक खुद मानते हैं कि एक तो मुख्यधारा का साहित्य है और एक दलित साहित्य है। तो क्या नहीं लगता कि कहीं कोई कमज़ोरी रह गई है?*

राजेन्द्र यादव – नहीं कमज़ोरी नहीं है। सत्ता जिनके पास होगी, साहित्य उनका होगा या जो सत्ता के अधीन हैं, उनका होगा? साठ फ़ीसदी सत्ता का है, पॉलिटिक्स का है। दलितों के विषय में एक बात और क्योंकि इनके पास और अनुभव नहीं हैं ज़िंदगी के, और कुछ जानते नहीं हैं, बस अपनी बातें जानते हैं या मालिक की जानते हैं। भई, ये लोग खेतों में काम करनेवाले हैं, उनके घरों में काम करनेवाले नौकर-चाकर हैं। एक तो ये घर के बाहर रहे हैं, इनके साथ संबंध बड़े फंक्शनल हैं, इसलिए ये इस बाहर की प्रक्रिया का भाग हैं। वे सिस्टम का हिस्सा हैं, लेकिन वे सिस्टम का हिस्सा नहीं भी हैं, वे बाहर हैं। तो इनके अनुभव बहुत ही सीधे हैं। इन लोगों ने मालिक के रूप में भगवान को देखा है, तो जब ऐसे लोगों को स्वतंत्रता मिलती है तो उनके सामने स्वतंत्रता का पहला नक्शा वह है, जो उनका मालिक था। तो हम तो यह कहते हैं कि इनका इतिहास अब शुरू हुआ है। इनका कोई इतिहास नहीं था। जो इतिहास है, इनके मालिकों का है, लेकिन अब उन्होंने अपना नया इतिहास शुरू किया है, क्योंकि इतिहास उनके होते हैं जो अपनी ज़िंदगी के फैसले ले सकते हैं। उन्होंने लिखना शुरू किया है और लिखने के लिए इनके पास सबसे प्रामाणिक अपनी आत्मकथाएं हैं। इसका मतलब पूरे दलित साहित्य का 60 प्रतिशत आत्मकथा से भरा है। हमारी ऑटोबायोग्राफ़ी सारे हिंदुस्तान में है, सब चीज़ें हैं। इनकी ऑटोबायोग्राफ़ी में अक्सर ऑब्सेसन हैं और उनसे मुक्त होने के संघर्ष हैं। हम तो यह कहते हैं कि ब्राह्मणवादी साहित्य का सूत्र है – सत्यम्-शिवम्-सुंदरम् और इनके साहित्य का सूत्र है, यातना-संघर्ष-स्वतंत्रता। ये विज़न ऑफ द फ़्यूचर है, क्योंकि सत्यम्-शिवम्-सुंदरम् वालों के पास भविष्य ही नहीं है। इनके पास अपना वर्तमान है ... इनके पास विज़न है और इनका लिटरेचर फ़्यूचर लिटरेचर है। यह सही है कि हमको कलात्मक रूप से इनमें से कुछ चीज़ों का विरोध करना चाहिए, लेकिन फिर मैं अपने आप से सवाल करता हूं कि कला की सारी मान्यताएं, सारी रणनीति हमारी अपनी हैं। हम जजमेंटल पोज़ीशन पर कहते हैं कि नहीं तुम्हारी चीज़ गलत है। भई, इसी के खिलाफ़ तो वे लड़ रहे हैं कि आप जज नहीं हैं, हमारी चीज़ों के, हमारी ज़िंदगी के, हमारी राइटिंग के। यानी यह वही बात है कि हम उन्हें दरवाज़े पर रोकें, तलाशी लें और साफ-सुथरा हों, तब अंदर आने दें। नहीं तो नहीं। यह गलत पावर है, रिजेक्टिंग ऑफ़ हाफ़ आफ़ द ह्यूमैनिटी। इनके पास कलात्मकता

नहीं है, इन्हें कहने का तरीका नहीं आता। तो मैं अपने आपसे सवाल करता हूं कि ये अंहकार, चीज़ों को जज करने का और जजमेंट पास करने का, हमारे दो हज़ार साल के संस्कारों से मिला है कि नहीं। हम उस पावर के हिस्से हैं, जो चीज़ तय करती हैं और इसलिए हम कहते हैं कि कलात्मक नहीं हैं। हो सकता है उनकी कला हमसे अलग हो या वे खुद रिजेक्ट करें, अभी तो हम रिजेक्ट कर रहे हैं न, हम बता रहे हैं कि कैसे लिखो, न लिखो। आगे चलकर हो सकता है कि उनके अपने सोचने का, बनाने का एक अलग नज़रिया हो।

आयवन कोस्का – *लेकिन आप अभी भी दलित साहित्य और लेखकों की बात कर रहे हैं। आपने निश्चित तौर पर महात्मा फुले द्वारा लिखा कुछ पढ़ा होगा, कम से कम अनुवाद में, और शायद सावित्री बाई फुले का कुछ लिखा भी पढ़ा होगा। वह महान कवयित्री थीं जैसा कि आप जानते होंगे और वे अपनी शूद्र पहचान के बारे में बहुत साफ़ थे। फुले हमेशा वंचित तबकों को स्त्री-शूद्र-अतिशूद्र कहकर संबोधित करते थे, उसी क्रम में। अब उनकी पहचान तो बहुत ही साफ़ है, उनके लेखन में भी एक खास शैली है – कुछ खंडनात्मक, कुछ तर्कपूर्ण, गुलामगिरी उसका मुख्य उदाहरण है, लेकिन उन्होंने गाथागीत, व्यंग्य और एक नाटक भी लिखा है, शायद आप जानते होंगे। यकीनन 150 साल पहले, दलित साहित्य का विचार तक आने से पहले, कम से कम महाराष्ट्र में, ऐसी स्पष्ट साहित्यिक आवाज़ थी, जो अपने आपको शूद्र कहती थी। इस साहित्य में – सबसे पहले – स्त्रियों की आवाज़ उठाने का भाव था, उनके साथ साझी पहचान बनाने का, जोकि सबसे अधिक उत्पीड़ित थीं, शुरुआत ब्राह्मण स्त्रियों से हुई। दरअसल, फुले का पहला सामाजिक कार्य उनके ही लिए था, जिस पर पुणे में बहुत ही बवाल मचा, जोकि उन पेशवा दिनों में लगभग 40 प्रतिशत ब्राह्मण प्रधान था। उनकी पत्नी ने भी मराठी साहित्य में बहुत काम किया, खासतौर पर कविता में। इसलिए हम जानते हैं कि 150 साल पहले एक दंपत्ति बहुत ही सचेत ढंग से शूद्र साहित्य पर काम कर रहा था। उन दिनों दलित साहित्य का कोई स्कूल नहीं था, लेकिन अब, जब हम मुड़कर देखते हैं और विश्लेषण करते हैं तो क्या हम नहीं कह सकते कि फुले दंपत्ति का रचनाकर्म ऐसे खाके में फ़िट बैठता है, जिसे हम शूद्र साहित्य कह सकते हैं? इसलिए मेरा सवाल फिर से यही है, क्या कोई दूसरा लिखित साहित्य नहीं है, जिसके बारे में हम कहें कि यह शूद्रों-ओबीसी द्वारा और उनके बारे में है?*

राजेन्द्र यादव – वे हमारे सिस्टम का हिस्सा हैं, हमारे समाज का हिस्सा हैं। ... उनका हमेशा हमारे साथ इंटरेक्शन है। तो हमारा खुद तो कुछ नहीं हुआ। वह हमारे साथ इंटरेक्ट करें। वह आया है अब उसे सकारात्मक लेते हैं या नकारात्मक, यह हमारा नज़रिया है। हम...

आयवन कोस्का – *यह 'हम' कौन हैं?*

राजेन्द्र यादव – हम वे सब हैं, जो दलित नहीं...

आयवन कोस्का *– लेकिन हम दलितों की नहीं, शूद्रों की बात कर रहे हैं।*

राजेन्द्र यादव – शूद्र कभी भी अलग नहीं किए गए, जैसा कि अमेरिका के कालों के साथ हुआ ...

आयवन कोस्का *– लेकिन फुले ने शूद्रों को उनके साथ ही गिना, जब उन्होंने अपनी पुस्तक का शीर्षक गुलामगिरी रखा और उसे उन अमेरिकावासियों को समर्पित किया, जिन्होंने कालों को गुलामी से आज़ादी दिलाने में मदद की थी।*

संजीव – हमारे देश के अंदर, बहुत दिक्कत है। शूद्र-अतिशूद्र, सब कुछ मिला-जुला है। बहुत बार हमने कहा भी कि दलित की परिभाषा कहां पर खत्म होती है, लेकिन कुछ स्पष्ट नहीं हुआ, फिर बाद में हमें किसी ने बताया कि अस्पृश्य अतिशूद्र होंगे और शूद्रों में जो स्पृश्य हैं, वे शूद्र होंगे। यह हमने शूद्रों से भी पूछा था। पदाणुक्रमिकता पूरे हिंदू समाज में है। ब्राह्मण की कौन-सी जाति है? ये सब जातियों के अंदर जो जातियां हैं, उनमें भी हैं। यही भारत की मूल चीज़ है, जो जाति व्यवस्था को खत्म नहीं होने देती और इसके चलते एक स्पष्ट मार्ग नहीं बन पाता, लेकिन शूद्रोंवाला जो मामला है, उसमें हम सब शूद्र हैं। जितने गैर-ब्राह्मण हैं वे सभी शूद्र हैं। वैसे कभी, इस प्रकार का स्पष्ट रूप से कोई विमर्श नहीं आया, लेकिन ऐसी बातचीत और विमर्श होना चाहिए।

आयवन कोस्का *– लेकिन क्या ऐसी चर्चा होनी चाहिए – ओबीसी साहित्य के बारे में?*

संजीव – ज़रूर होनी चाहिए ... अब नहीं होगी तो कब होगी?

प्रमोद रंजन *– संजीवजी शायद सहमत हैं कि ओबीसी साहित्य के होने का अब समय आ गया है।*

संजीव – नहीं-नहीं, इसके लिए हमने नहीं कहा। हमने कहा है कि उस तरह का अभी तक कोई वर्गीकरण नहीं हुआ है। हमने कहा कि अगर डिफ़ाइन किया जा सके तो संत साहित्य और सिद्ध साहित्य वह काव्य है। इस पर एक विमर्श शुरू होना चाहिए, यह हम मानते हैं।

प्रमोद रंजन *– अगर आप यह विभाजन करते हैं कि एक तरफ़ मुख्यधारा का साहित्य है और दूसरी तरफ़ अतिशूद्रों का साहित्य है, जिन्होंने अस्पृश्यता झेली है तो शूद्रों का साहित्य तो है नहीं ...*

राजेन्द्र यादव – प्रमोद रंजनजी आज आप तय करके आए हैं कि जान लेकर ही जाएंगे।

(समवेत हंसी)

(लिप्यांतर : प्रेमपाल)

(फारवर्ड प्रेस के अगस्त, 2011 व सितंबर 2011 अंक में धारावाहिक प्रकाशित)

'यह तुम्हारा समय है, मेरा नहीं'

राजेंद्र यादव से अमरेंद्र यादव की बातचीत

हिंदी में 'नई कहानी' आंदोलन के प्रवर्त्तकों में से एक, कहानीकार-उपन्यासकार और साहित्यिक पत्रिका 'हंस' के संपादक राजेंद्र यादव का निधन साहित्य जगत से एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर का चले जाना है। देश-विदेश के साहित्यिक-सांस्कृतिक आयोजनों में भागीदारी और 'हंस' के संपादन के साथ-साथ स्त्री व दलित विमर्श में सार्थक हस्तक्षेप के कारण राजेंद्र यादव लगातार चर्चा में बने रहे। साहित्यकारों की नई पीढ़ी के साथ उनका जुड़ाव एक दोस्त के रूप में था और वे जब तक जीवित रहे, तब तक युवा लेखकों की यही आकांक्षा रही कि उन्हें राजेंद्र यादव से बतरस का मौका मिले।

इसी इच्छा से दिल्ली आने के बाद सबसे पहले मैं यदि किन्हीं से मिला तो वे राजेंद्र यादव थे। जब तक मैं दिल्ली में रहा, उनसे बराबर मिलता रहा। राजधानी में रहकर पत्रकारिता में एमए करने और कुछ समय तक दैनिक 'लोकमत समाचार' में काम करने के बाद मैंने वर्ष 2013 में 'फारवर्ड प्रेस' ज्वाइन किया। उसके बाद कई बार यादवजी से मुलाकातें हुईं, लेकिन वे औपचारिक ही रहीं, हालांकि इन मुलाकातों में उनके सहज स्वभाव के कारण मैं उनसे बहुत खुल गया था और उनसे लड़ने-भिड़ने का माद्दा भी मुझमें आ गया था।

अप्रैल, 2013 में फारवर्ड प्रेस की 'बहुजन साहित्य वार्षिकी' प्रकाशित होने के बाद मेरे मन में अनेक सवाल उमड़े और पता नहीं क्यों ऐसा लगा कि इनके उत्तर सिर्फ राजेंद्र यादव ही दे सकते हैं। मुख्य सवाल 'ओबीसी साहित्य' की उस अवधारणा को लेकर था, जिसे 'फारवर्ड प्रेस' प्रस्तुत कर रहा था। इस संबंध में यादवजी का इंटरव्यू मुख्य संपादक आयवन कोस्का और संपादक प्रमोद रंजन ले चुके थे। साक्षात्कार में यादवजी ने जो बातें कही थीं, वे मुझे संतुष्ट नहीं कर पा रही थीं।

बहरहाल, ओबीसी साहित्य पर चर्चा करने की और अनेक जिज्ञासाएं मन में लिए मैं उनसे मिलने दरियागंज स्थित 'हंस' कार्यालय पहुंच गया। औपचारिक दुआ-सलाम के बाद उनसे बातचीत शुरू हुई -

अमरेंद्र यादव – *सर, ओबीसी साहित्य को आप कैसे देखते हैं?*

राजेंद्र यादव – हमारे हिसाब से ओबीसी साहित्य की कोई अवधारणा अभी तक सामने नहीं आई है।

अमरेंद्र यादव – *लेकिन दलित साहित्य को जब आप मान्यता देते हैं तो ओबीसी साहित्य को क्यों नकार रहे हैं?*

राजेंद्र यादव – दलित साहित्य के पीछे उन समुदायों की सामाजिक, राजनीतिक पीड़ा का यथार्थ है।

अमरेंद्र यादव – *हिंदी में दलित साहित्य की धारा को लेकर 'हंस' को आपने समकालीन परिदृश्य में साहित्यिक वाद-विवाद का एक सक्रिय मंच बना दिया, लेकिन आप ओबीसी के हक को नकार रहे हैं?*

राजेंद्र यादव – यह कहते हुए मुझे कोई संकोच या किसी तरह की हिचक नहीं है कि पिछले ढाई दशक में हिंदी पट्टी में रहनेवाले लोगों की महत्त्वपूर्ण कहानियां 'हंस' में ही छपीं। अगर झूठी शालीनता न बरतूं तो कह सकता हूं कि हिंदी में अस्सी प्रतिशत श्रेष्ठ कहानियां 'हंस' में ही प्रकाशित हुई हैं और अगर तुम इसे समकालीन परिदृश्य में साहित्यिक वाद-विवाद का सक्रिय मंच मानते हो तो तुम्हारी मर्जी। अगर तुम चाहते हो कि ओबीसी को लेकर भी ऐसा परिदृश्य पैदा हो तो सबसे पहले ओबीसी की अवधारणा क्या है, यह तो स्पष्ट करो।

अमरेंद्र यादव – *मंडल कमीशन ने पिछड़े समुदायों के लोगों को सामूहिक रूप से 'अन्य पिछड़ा वर्ग' का नाम दिया। इन पिछड़े समुदायों के लोग अपनी पीड़ा को उजागर करना चाहते हैं। आप विरोध कर रहे हैं?*

राजेंद्र यादव – देखो, पहली बात मैं कोई विरोध नहीं कर रहा हूं। भाई, मैं तो यह कह रहा हूं कि ओबीसी अपने विचार को समग्रता से पहले सामने तो लाएं, अपने चिंतकों को सामने तो लाएं। वहां जब चिंतक ही नहीं हैं तो चिंतन कौन करेगा।

अमरेंद्र यादव – आप भी तो ओबीसी समाज से हैं। फिर आपने इसके लिए काम क्यों नहीं किया?

राजेंद्र यादव – देखो, मैं फिर तुमसे कह रहा हूं कि मेरे समय में ओबीसी साहित्य जैसा कुछ नहीं था, तो मैं उस पर कार्य कैसे करता?

अमरेंद्र यादव – *लेकिन आप ओबीसी हैं तो अपने को ओबीसी लेखक कहलवाना क्यों नहीं चाहते?*

राजेंद्र यादव – मैं अपने आपको ओबीसी के दायरे में समेटकर नहीं देखता।

अमरेंद्र यादव – *आप दलित चिंतकों के बारे में बात तो करते हैं, लेकिन आपको ओबीसी में कोई चिंतक ही दिखाई नहीं देता?*

राजेंद्र यादव – देखो, दलितों के पास आंबेडकर, अछूतानंद, फुले हैं। ओबीसी में कौन है ?

अमरेंद्र यादव – *लेकिन फुले तो ओबीसी वर्ग में आते हैं?*

राजेंद्र यादव – फुले के समय में ओबीसी नहीं था।

***अमरेंद्र यादव** – लेकिन वर्तमान में ओबीसी वर्ग है और उसमें आप भी हैं।*

राजेंद्र यादव – अब मेरा समय नहीं है, यह समय तुम जैसे लोगों का है। तुम जो काम करोगे, वह तुम्हें आगे ले जाएगा।

***अमरेंद्र यादव** – लेकिन आप हमारे जैसे लोगों को आधार ही मुहैय्या नहीं करा रहे हैं।*

राजेंद्र यादव – मेरे समय में साहित्य में ओबीसी वर्ग का विमर्श नहीं था। अब तुम्हारे समय में है, तुम इस पर काम करो।

***अमरेंद्र यादव** – तो आप हमें सहयोग करेंगे?*

राजेंद्र यादव – हां, अगर तुम ईमानदारीपूर्वक तार्किक रूप से काम करोगे, अपने विचारकों को आगे लाओगे, तब जहां भी तुम्हें मेरी जरूरत हो बताना, मैं तुम्हारी मदद करूंगा।

***अमरेंद्र यादव** – लेकिन आप अभी ही मदद नहीं कर रहे हैं।*

राजेंद्र यादव – देखो, बात समझने की कोशिश करो। हमारे समय में साहित्य का इस तरह का बंटवारा नहीं हुआ था। हम लोग मुख्यधारा के साहित्य के अंदर ही अपनी अस्मिता के लिए लड़ रहे थे, लेकिन अब तुम लोग कर रहे हो तो तुम इस पर लिखो। मैं तुम्हारे साथ हूं। मैं नए विचारों को सामने लाना चाहता हूं। मेरे लिए यह नई चीज है, अगर ऐसा तुम कर पाओ तो आगे देखेंगे। तुम्हें जो भी सहयोग चाहिए, हम करेंगे।

और इस तरह उन्होंने हौसला अफजाई करते हुए बातचीत समाप्त करने का इशाारा किया।

29 अक्टूबर, 2013 को मन व्यथित और शोकाकुल हो गया, जब सुबह-सुबह कटिहार से नवनीत यादव ने फोन कर राजेंद्र यादव के इंतकाल की सूचना दी। मेरे लिए 'सारा आकाश' एकबारगी खाली हो गया।

(फारवर्ड प्रेस, मई, 2014)

साहित्य में जाति विमर्श

प्रेमकुमार मणि

पिछले दिनों फॉरवर्ड प्रेस के पन्नों पर ओबीसी साहित्य की चर्चा हुई, तब इस पर सोचने के लिए विवश हुआ। स्मरण आता है 1970 के दशक में मराठी साहित्य में दलित विमर्श को लेकर इसी तरह चर्चा हुई थी। तब मैं युवा था। मैंने उस समय इस विषय यानी दलित साहित्य पर एक लेख लिखा था, जो अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ। 1975 में पटना में दलित साहित्य पर एक संगोष्ठी भी करवाई थी, जिसमें मराठी दलित साहित्य के अनेक नामचीन लेखक शामिल हुए थे।

हिंदी में दलित साहित्य की चर्चा 1980 के बाद तीव्र हुई। 1990 में मंडल आंदोलन के बाद राजनीति में जब जाति विमर्श शुरू हुआ, तब साहित्य में यह विमर्श तीव्रतर हुआ।

मराठी समाज में वैचारिक आंदोलन की एक सुदीर्घ परंपरा है। आधुनिक जमाने में एक तरफ तिलक-सावरकरवादी रहे तो दूसरी ओर फुले-आंबेडकरवादी। दलित साहित्य की प्रस्तावना फुले-आंबेडकरवादी पक्ष ने रखी और स्पष्ट किया कि अब तक का साहित्य वर्णवादी विमर्श को स्वीकार कर लिखा गया है, हम इसे नकारते हैं। साहित्य में हम अधिक स्वतंत्रता-स्वच्छंदता और मानवीयता को रेखांकित करते हैं।

दलित साहित्य की प्रस्तावना का जो समय था, वह भारतीय साहित्य में प्रगतिशील और आधुनिकता के विमर्श का उत्कर्ष काल था। प्रगतिशील पक्ष मार्क्सवादियों के प्रभाव में था, तो आधुनिकतावादी उत्तर मार्क्सवादी विमर्श की बात करते थे, लेकिन चिंतनीय है कि इन दोनों पक्षों ने दलित लेखकों को प्रभावित नहीं किया।

कारण क्या थे? मार्क्सवादी और उत्तर मार्क्सवादी लेखक स्वयं को तिलक-सावरकरवाद की पृष्ठभूमि से अलग नहीं कर पा रहे थे। नतीजा था कि प्रगतिशील और आधुनिकतावादी दोनों पक्ष राष्ट्रीयता में अपनी जड़ें तलाशने लगे। सुविधा के लिए मैं हिंदी साहित्य का उदाहरण लेना चाहूंगा। यहां रामविलास शर्मा अपनी राष्ट्रीयता की तलाश में 1857 और नवजागरण के संधान में लग जाते हैं, दूसरी ओर अज्ञेय और निर्मल वर्मा क्रमशः जय जानकी जीवन यात्रा और कुंभ मेले में स्वयं को

तलाशने लगते हैं। वास्तविकता यह है कि इन दोनों पक्षों में मौलिक एकता है और उनकी पृष्ठभूमि एक है।

स्वाभाविक तो यह था कि मार्क्सवादियों और फुले-आंबेडकरवादियों की एकता होती, लेकिन मार्क्सवादी और उससे अधिक उत्तर मार्क्सवादी तिलक-सावरकरवाद की ओर झुकते दिखे। हिंदी में तिलक-सावरकरवाद का अच्छा-खासा प्रभाव दिखता है। रामचंद्र शुक्ल तो तिलक के साहित्यावतार ही हैं। रामविलास शर्मा ने सावरकरवाद को मार्क्सवादी जामा दिया है।

लेकिन फुले-आंबेडकरवादी तो पूरी ईमानदारी से मार्क्सवाद से संगति स्थगित करते रहे। मार्क्सवाद के स्थापित सिद्धांतकारों ने फुले-आंबेडकरवादियों की लगातार उपेक्षा की। नतीजा था दोनों दो दिशाओं में चले गए। यह दुर्भाग्यपूर्ण था।

मार्क्स और आंबेडकर लगभग तमाम चीज़ों पर एकमत दिखते हैं, सिवाय एक जगह के। यह मौलिक मतभेद है, लेकिन एकता के तत्व अधिक हैं। मार्क्स मानते हैं कि भौतिक अथवा आर्थिक कारण मनुष्य की नियति के लिए ज़िम्मेदार हैं। यदि मनुष्य आर्थिक दारिद्र्य समाप्त कर लेता है, तब बाकी चीज़ें स्वयमेव हासिल कर लेता है। मार्क्स के यहां शोषण का मतलब आर्थिक शोषण और मुक्ति का मतलब आर्थिक मुक्ति। आर्थिक रूप से मुक्त मानव फिर किसी अन्य तरह से शोषित नहीं रह सकता। आंबेडकर ने माना कि ऐसा नहीं है। मुख्य चीज़ है अस्मिता। मनुष्य जब अस्मिता (इज़्ज़त) हासिल कर लेता है तब बाकी सारी चीज़ें आर्थिक स्वतंत्रता भी हासिल कर लेता है। मार्क्स और आंबेडकर में इतना ही फ़र्क है। इतिहास की व्याख्या में भी इसी पुट का इस्तेमाल करना होगा। मार्क्स का कहना था कि उन्होंने सिर के बल खड़े हीगेलवाद को पैर के बल खड़ा किया। आंबेडकर कह सकते थे कि उन्होंने पेट के बल पड़े मार्क्सवाद को वास्तविक रूप से खड़ा किया। दरअसल राष्ट्रवाद और अस्मिता में भी एक अंतरसंबंध है। राष्ट्रवाद और कुछ नहीं, एक बड़ा अस्मिता बोध ही है। अंग्रेजी राज के विरुद्ध जब भारत का मध्यवर्ग संघर्ष कर रहा था तब एक सामूहिक अस्मिता के लिए ही संघर्ष कर रहा था, आंबेडकर का संघर्ष व्यापक अस्मिता के लिए था। अपने लेखन द्वारा उन्होंने जो विमर्श प्रस्तुत किया, उससे पता चलता है कि मनुष्य की राजनीतिक मुक्ति की जगह वह समग्र अथवा सम्यक मुक्ति का विचार रखते थे। आखिरी समय में एक धार्मिक आंदोलन से उनका जुड़ना, उनकी इसी मानसिकता को दर्शाता है।

लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण है कि फुले-आंबेडकरवाद प्रणीत दलित आंदोलन हिंदी में आकर अनुसूचित जाति आंदोलन बन गया और जिस साहित्य को दलित साहित्य नाम से चिह्नित किया गया, वह अनुसूचित जाति साहित्य हो गया। ज़िम्मेदारी किसकी है और कमियां कहां रहीं, यह शोध का विषय है, लेकिन सच्चाई है कि दलित साहित्य जिस संकीर्णतावाद के विरुद्ध उठा था, उससे कहीं ज़्यादा संकीर्णतावाद से घिर गया। साहित्य में जाति विमर्श और सामाजिक विमर्श की वकालत करना एक

बात है और एक नया जातिवाद स्थापित करना अलग बात। इसे इस रूप में लाने में हिंदी के द्विज आलोचकों की बड़ी भूमिका रही। मिल-मिलाकर सबने दलित साहित्य को एक पृथक प्रकोष्ठ के रूप में स्थापित कर दिया, जैसे भारतीय गांवों में जातिवार टोले होते हैं और सबसे दक्षिण में दलित जातियों के टोले होते हैं, उसी तरह दलित साहित्य हिंदी साहित्य की अनुक्रमणिका बनकर रह गया।

लेकिन यह ओबीसी साहित्य क्या करेगा? क्या विचार की जगह जाति को आधार बनाकर खड़ा होने की बात करनेवाला यह आंदोलन एक और संकीर्णतावादी विमर्श के रूप में खड़ा होना चाहता है? उत्तर भारत के द्विज प्रभुत्ववाले राजनीतिक दलों में दलित और पिछड़ा वर्ग प्रकोष्ठ हुआ करते हैं। अब तो अति पिछड़ा प्रकोष्ठ भी हो गए हैं। क्या ओबीसी साहित्य ऐसा ही एक नया प्रकोष्ठ बनेगा?

ओबीसी साहित्य की कोई अलग विचारधारा है तो उसे स्पष्ट करना चाहिए अन्यथा जाति को लेकर एक नया पंथ खड़ा करना बहुत होशियारी की बात नहीं है। दलित साहित्य के साथ एक विचारधारा थी। फुले अंबेडकरवाद की विचारधारा। बड़े उद्देश्य थे। व्यापकता थी।1975 में पटना में मैंने दलित साहित्य पर संगोष्ठी आयोजित की थी, तब उसमें बाबूराव बागूल, दया पवार, अर्जुन डांगले, सतीश कालसेकर के साथ प्र. श्री. नेरूरकर भी थे। श्री नेरूरकर जन्मना ब्राह्मण थे, लेकिन दलित साहित्य के सम्मानित लेखक थे। यदि हम संस्कृत साहित्य का संधान करेंगे तो पाएंगे कुरुब (एक पिछड़ी जाति) से आए हुए कालिदास वर्ण व्यवस्था के पक्षधर लेखक हैं, जबकि ब्राह्मण परिवार से आए अश्वघोष बुद्धचरितम् व वज्रसूची लिखकर इसका विरोध कर रहे हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य में राहुल सांकृत्यायन, प्रेमचंद, रांगेय राघव, मुक्तिबोध जैसों की एक लंबी परंपरा है, जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठाई है, लेकिन जयशंकर प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त अद्विज तबके से आकर क्या कर रहे थे, सबको पता है। शूद्र चंद्रगुप्त को जयशंकर प्रसाद की किस मानसिकता ने क्षत्रिय बना दिया, हम सहज रूप से समझ सकते हैं।

सवाल जाति का नहीं, विचारधारा का है। इसे नौकरियों में आरक्षण की तरह मत देखिए। साहित्य पर विचार करने के पूर्व स्वयं को उसके अनुकूल बनाइए। हां, यह स्वीकार करने में मुझे कोई परेशानी नहीं है कि आज जो ओबीसी साहित्य की बात उठ रही है, उसके पीछे दलित साहित्य की संकीर्णतावादी सोच है। इसे मिल-बैठकर, विमर्श कर दूर करना ही श्रेयस्कर है।

(फारवर्ड प्रेस, नवंबर, 2011)

ओबीसी साहित्य पर विमर्श

बजरंग बिहारी तिवारी

'लाखों भारतीयों की आकांक्षाओं का प्रतीक' फॉरवर्ड प्रेस पत्रिका द्वारा बहुजन साहित्य ओबीसी साहित्य, पर चलाई जा रही बहस को एक जिज्ञासु छात्र की तरह पढ़ता रहा हूं। कभी अपने को इस लायक और इस स्थिति में नहीं पाया कि लिखित टिप्पणी कर सकूं। अभी मेरे सामने अप्रैल, 2012 का चर्चित अंक 'बहुजन साहित्य वार्षिकी' है और मैं साहस करके यह अति संक्षिप्त प्रतिक्रिया दे रहा हूं।

मेरी जानकारी में अभी तक बहुजन साहित्य की कोई सैद्धांतिकी प्रस्तुत नहीं की गई है। फॉरवर्ड प्रेस ने यह नेतृत्व संभालकर ऐतिहासिक दायित्व निभाया है। पत्रिका के मुताबिक बहुजन साहित्य के भीतर दलित-आदिवासी-स्त्री साहित्य आते हैं। अब सवाल इन अस्मिताओं का प्रतिनिधित्व करनेवाले साहित्यकारों के सामने है। क्या वे अपने को बहुजन छाते के भीतर देखना चाहेंगे? क्या इसमें उन्हें शक न होगा कि साहित्य के क्षेत्र में देर से चेतनेवाले ओबीसी साहित्यकार अपने को मुखिया के रूप में पेश करना चाहते हैं। कभी दलित साहित्य को ऐसे ही परिभाषित किया गया था कि उसमें सभी अस्मिताओं का समावेश हो जाए, लेकिन बाद में स्वयं दलित साहित्यकारों ने (विशेषकर हिंदी के) जन्मना अनुसूचित जाति तक अपनी परिधि बना दी।

बहुजन आलोचना की प्रस्तावना करते हुए प्रमोद रंजन ने उसमें सभी इच्छित अच्छाइयां डाल दी हैं। काश कि ये सारी विशेषताएं साकार हों! ऐसी स्थिति में बहुजन साहित्य ही भविष्य का साहित्य होगा। प्रमोदजी ने पत्रिका की पहली साहित्य वार्षिकी में द्विज साहित्य की विवेचना के लिए अपने 'प्रिय' कहानीकार संजय कुंदन का चुनाव किया है। चयन की अपनी राजनीति होती है, अनुकूल लगने का अपना तर्क होता है। वे चाहते तो संजय कुंदन की ही सामाजिक पृष्ठभूमिवाले दूसरे किसी कहानीकार को चुन सकते थे। फिर संजय कुंदन क्या एकल अस्मिता वाले हैं? उनकी आर्थिक पृष्ठभूमि, पारिवारिक व्यवसाय (ब्राह्मण सिर्फ़ पुरोहित नहीं होते), शैक्षिक स्थिति, क्षेत्रीय स्थिति, शहरी और देहाती जीवनांश भी विचारणीय हैं या नहीं? अस्मितावाद की दिक्कत यह कि वह संश्लिष्टता की बिलकुल परवाह नहीं करता। व्यक्ति, विचार और स्थिति को स्याह-सफ़ेद के खानों में रखकर देखता है। उसकी ताकत भी यही है। संश्लिष्टता के चक्कर में पड़ेगा तो अस्मितावाद का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जाएगा।

बहरहाल, संजय कुंदन और उनके प्रशंसक इस बात पर प्रसन्न हो सकते हैं कि उन्हें (कुंदन को) द्विज समुदाय के प्रतिनिधि के रूप में रखा गया है। रखने को भालचंद्र जोशी, प्रमोद भार्गव, देवेन्द्र कुमार पाठक भी हो सकते थे, लेकिन तब अस्मितावाद का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इन कहानीकारों ने दलित-आदिवासी जीवन पर केंद्रित होकर लिखा है।

राजेंद्र प्रसाद सिंह 'ओबीसी साहित्य' के मान्य सिद्धांतकार हैं। वे भाषा विज्ञानी भी हैं। उन्हें जितना पढ़ा है, उससे उनके लिखे हुए के प्रति उत्सुकता बनी रहती है। वे परिश्रम से तथ्यान्वेषण करते हैं और पाठकों को चौंकानेवाली जानकारियां उपलब्ध कराते हैं। उदाहरण के लिए 'एक ब्राह्मण की हैसियत' वाले अज्ञेय के तार सप्तक का जातिपरक भाष्य और उसकी प्रतिक्रिया में कायस्थों का 'नई कविता' आंदोलन। राजेंद्र सिंह का निष्कर्ष है कि ये आंदोलन 'जाति' के आधार पर चलाए गए काव्यांदोलन हैं।

राजेंद्र प्रसाद सिंह असल में ओबीसी साहित्य में वही स्थान रखते हैं, जो दलित साहित्य में डॉ धर्मवीर। ब्राह्मणवादी संस्कारों के प्रति दोनों में गहरा 'ऑबसेशन' है। 'इलहामी' आलोचना में यकीन रखनेवाले दोनों सिद्धांतकार साम्यवादी विचारधारा के प्रति घृणा पाले हुए हैं। राजेंद्र प्रसाद सिंह ने अपने अप्रैल, 2012 वाले लेख में मार्क्सवादी आलोचना को भारत में (शुद्ध) 'बेईमानी' (शीअर डिसॉनेस्टी) कहा है। रक्त को ही एकमात्र निर्धारक माननेवाले राजेंद्र प्रसाद सिंह का यह निष्कर्ष बिलकुल स्वाभाविक है कि किसी जाति विशेष के रचनाकार का सही मूल्यांकन उसी जाति का आलोचक कर सकता है। राजेंद्रजी ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इस बात के लिए आलोचना की है कि इन्होंने कविता को 'हृदय की मुक्ति' से जोड़ा है। उनके अनुसार कविता 'बहुजन साहित्य अस्मिता के साथ भूख से मुक्ति की साधना है।' हिंदी साहित्येतिहास लेखन की सबसे बड़ी कमजोरी उनके अनुसार यह है कि रचनाकार के साथ उसकी जाति का उल्लेख नहीं किया जाता। यहां वे चाहें तो रामचंद्र शुक्ल को अपना आदर्श मान सकते हैं, क्योंकि उन्होंने इस अपेक्षा का सर्वाधिक ध्यान रखा है।

प्रेमकुमार मणि ने भी ओबीसी लेखक रेणु का महत्त्व स्थापित करने के लिए प्रेमचंद को धकियाना ज़रूरी समझा है। इस तर्क से कि एक ओबीसी आलोचक ही ओबीसी कथाकार का मर्म उद्घाटित कर सकता है। प्रेमकुमार मणि ने रेणु का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है कि प्रेमचंद के द्वारा चित्रित गांव 'कृत्रिम' है, 'दूर से देखा गया है' (कितनी दूर से, यह अनिदृष्टि है) जबकि रेणु का 'गांव कृत्रिम नहीं, वास्तविक है।' (देखें इसी पुस्तक में पेज-95)

तसव्वुर कीजिए कि अगर रेणु और प्रेमचंद एक-दूसरे की जातियों में पैदा होते तो प्रेमकुमार मणि का मूल्यांकन क्या होता! ओबीसी अस्मितावाद वर्ण-जाति से मुक्ति की कामना करता नहीं दिखता। हां, वह मानव मुक्ति की प्रक्रिया को दुश्वारियों में डालने का काम करता है। ऐसी दुश्वारियों से सीखते हुए आगे बढ़ा जाना चाहिए।

(फारवर्ड प्रेस, अगस्त, 2012)

आलोचना की अधोगति

प्रेमकुमार मणि

मुझे कई दफा हिंदी के प्राध्यापक-आलोचकों के विमर्श के तरीकों पर कोफ़्त हुई है और यह अनुभव भी कि वे खुद को बदलने के लिए तैयार नहीं हैं। ज्ञान के जितने भी क्षेत्र हैं, उनमें व्यापक परिवर्तन दिखते हैं। इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान और यहां तक कि आध्यात्म के क्षेत्र में विमर्श के नये से नये आयाम लगातार उद्घाटित हो रहे हैं, लेकिन हिंदी साहित्य ने जान-बूझकर अपने चारों ओर एक बाड़ा बना लिया है कि न हम इससे बाहर जाएंगे और न बाहर से किसी को आने देंगे।

यह बात मैं अपनी एक साहित्यिक टिप्पणी (देखें इसी पुस्तक में पेज - 95) और उस पर आए कम से कम दो हिंदी आलोचकों (डॉ. नामवर सिंह और बजरंग बिहारी तिवारी) की प्रतिटिप्पणियों के प्रसंग में लिख रहा हूं। हिंदी उपान्यासकार फ़णीश्वरनाथ रेणु पर टिप्पणी करते हुए मैंने लिखा कि 'प्रेमचंद के गोदान में जो गांव है, वह दूर से देखा गया है, रेणु ने भोगे हुए गांव को रखा है, उनका गांव कृत्रिम नहीं, वास्तविक है।'

मेरा आशय, आलेख के पूरे पाठ को ही देखकर स्पष्ट हो सकता है, लेकिन इतना सच है कि रेणु के मैला आंचल में जो गांव वर्णित है, वह गोदान की तुलना में ज्यादा वास्तविक दिखता है। स्वयं रेणु के दूसरे उपन्यास 'परती परिकथा' के बारे में यही नहीं कहा जा सकता। देखना और भोगना अलग-अलग क्रिया है और कृत्रिम कहने का अर्थ यह नहीं है कि उसमें वास्तविकता की झलक नहीं है। कागज के फूल दूर से वास्तविक होने का ही आभास देते हैं।

मैं अपनी टिप्पणी पर आज भी कायम हूं। मेरे कहने के आधार हैं और इसे कोई भी देख-समझ सकता है। भारतीय गांवों को समझना हो तो गोदान पढ़ने से आज काम नहीं चलेगा। आपको मैला आंचल और रागदरबारी पढ़ना ही होगा। गोदान के ग्राम वर्णन में जातिविमर्श का विहंगावलोकन हुआ है, उसका सिंहावलोकन तो मैला आंचल में है। जातिविमर्श एक ऐसा मुद्दा है, जिससे निरपेक्ष रहकर आप गांव पर समग्र विमर्श नहीं कर सकते। रेणु ने जाति के रेशों से बुने गांव को सावधानी से समझा है। मार्क्स का मानना था कि पूरब की निरंकुशता का मुख्य आधार गांव है और इसकी सरल उत्पादन प्रणाली इसके पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार है। इसे नष्ट किए बिना आधुनिकता नहीं आ सकती। डॉ. आंबेडकर भी ऐसा ही मानते हैं। रेणु इसका

विरोध नहीं करते, लेकिन संशोधन जरूर पेश करते हैं। रेणु का आग्रह होता है कि गांवों में आधुनिकता और लोकतंत्र के तत्वों को रेखांकित किया जाए। वे यह भी कहना चाहते हैं कि लोकतंत्र का विस्तार गांवों से जुड़कर ही होगा। यह एक ऐसा नजरिया है, जो रेणु को प्रेमचंद से न केवल अलग अपितु आगे भी करता है, खासकर ग्राम विमर्श के क्षेत्र में।

लेकिन मेरी टिप्पणी को लेकर कुछ लोगों को यह लगा कि मैं प्रेमचंद को रेणु से कमतर बता रहा हूं। प्रेमचंद अपनी जगह हैं और रेणु अपनी जगह। दोनों का अपना-अपना स्थान है, लेकिन कुछ मुद्दों पर यदि तुलनात्मक विमर्श होता है तो इससे पूर्ववर्ती महान लेखक की अवमानना जैसी कोई बात तो नहीं होती।

एक पत्रिका के इंटरव्यू में आदरणीय नामवरजी से भेंटकर्त्ता ने (तहलका, हिंदी, 15 अगस्त, 2012 में नामवर सिंह से स्वतंत्र मिश्र की बातचीत) मेरी टिप्पणी का हवाला देकर प्रतिक्रिया जाननी चाही तो नामवरजी ने जो बातें कहीं, उस पर भी मुझे हैरानी हुई। उनकी पहली बात तो यह थी कि प्रेमचंद और रेणु में कोई तुलना नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि दोनों दो समय के लेखक हैं। प्रेमचंद स्वाधीनता आंदोलन के दौर के लेखक थे और फिर यह कि प्रेमचंद ने रेणु की तुलना में बहुत ज्यादा लिखा है।

यदि ऐसा है तो कालिदास और अश्वघोष में कोई तुलनात्मक अध्ययन नहीं होना चाहिए, लेकिन हुआ है। दोनों के समय में सदियों का अंतर है और मात्रा के हिसाब से भी अश्वघोष ने कालिदास से कम लिखा है। जहां तक मेरी बात है, मैं विचारों के मामले में अश्वघोष के नजदीक हूं (अश्वघोष वर्णधर्म के विरुद्ध थे, जबकि कालिदास उसके आग्रही) लेकिन साहित्यकार-कलाकार के रूप में मैं निःसंदेह कालिदास को ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानता हूं।

आदरणीय नामवरजी को कम से कम अपने गुरु द्विवेदीजी की ओर तो देखना चाहिए था। उन्होंने अपने ग्रंथ 'कबीर' में कबीर और रवीन्द्र की कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। क्या वे दोनों दो समय के कवि नहीं हैं? कबीर महान हैं, तो रवीन्द्र भी महान हैं। रवीन्द्र की कविताओं पर कबीर का कुछ प्रभाव है तो यह कबीर को महत्त्व ही प्रदान करता है। यह द्वंद्वात्मक संबंध होता है, जिसमें पूर्ववर्ती लेखक को आत्मसात करते हुए परवर्ती लेखक आगे बढ़ जाता है।

रेणु ने उपन्यास लेखन के क्षेत्र में प्रेमचंद के बाद आई हुई जड़ता को तोड़ा। इसे मैंने नहीं, लब्ध प्रतिष्ठित आलोचक नलिन विलोचन शर्मा ने चिह्नित किया है। उन्होंने मैला आंचल पर लिखते हुए बताया, 'हिंदी उपन्यास साहित्य में जो गत्यावरोध था, वह इस उपन्यास (मैला आंचल) से टूटता है।'

जब गतिरोध टूटता है, तब परंपरा का विस्तार होता है। रेणु, प्रेमचंद के विस्तार हैं। हिंदी पौराणिकता से एक उदाहरण लेकर कहूं तो रेणु और प्रेमचंद का संबंध कुछ-कुछ राम और कृष्ण की तरह का होता है। राम पूर्णावतार नहीं हैं, पूर्णावतार हैं कृष्ण।

श्री बजरंग बिहारी तिवारी ने जो टिप्पणी (*फारवर्ड* प्रेस, अगस्त, 2012) की है, वह अशोभनीय और आपत्तिजनक है। उन्होंने मुझे जातिवादी नजरिए से देखा है। मैं

इतना ही कहना चाहूंगा कि मैंने जातिवादी नजरिए से कभी काम नहीं किया है। जाति समस्या पर विमर्श एक बात है और जातिवादी होना अलग बात। मैं श्री तिवारी से अपनी संकुचित मानसिकता से बाहर आने का अनुरोध करते हुए संवाद करना चाहूंगा।

विमर्श का ब्राह्मणवादी नजरिया अवैज्ञानिक है। यह बतलाता है कि पहले सतयुग था, आज कलियुग है। अच्छे से बुरे की ओर गति को ब्राह्मणवाद स्वीकारता है। वह प्रगति में नहीं, अधोगति में विश्वास करता है। पहले सब अच्छा था, अब सब कुछ खराब है। आरंभ में देवभाषा संस्कृत थी, बाद में लोकभाषाएं विकसित हुई। पहले देवताओं का जमाना था, अब उनसे कमतर मनुष्यों का जमाना है।

विज्ञान कहता है कि सरल से जटिल की ओर प्रगति होती है। एककोशकीय जीवों से विकास करते-करते बहुकोशीय जीव बने। पहले जनभाषाएं बनीं, इसे मांजकर, संस्कारित कर अभिजनों ने अपनी भाषा बनाई। पहले खराब युग था, उसकी अपेक्षा आज बढ़िया युग है। यह है प्रगतिवाद।

साहित्य में यह प्रगतिवाद अपनी ही तरह से विकसित होता है। हिंदी में यह भारतेन्दु से प्रेमचंद और फिर जैनेन्द्र, अज्ञेय से होते हुए रेणु तक पहुंचता है और फिर आगे बढ़ जाता है। भारतेन्दु से प्रेमचंद और प्रेमचंद से रेणु, ये माइल स्टोन हैं। रेणु स्वीकृत ही इसलिए हुए कि उन्होंने अनेक स्तरों पर प्रेमचंद को खारिज किया। साहित्य-संस्कृति में ज्यादातर प्रगति होती है, अधोगति को रेखांकित ही नहीं किया जाता। अच्छे से बुरे की ओर नहीं, अच्छे से और अच्छे की ओर संक्रमण होता है। यही विकास है। किसी घड़ी का कोई डिजाइन तब तक चलता रहेगा, जब तक उससे कोई अच्छा डिजाइन उसे रिप्लेस न कर दे। यदि नये में विशेषता नहीं होगी, तो वह पुराने को हटाने में समर्थ नहीं होगा। कालिदास ने कहा है कि कोई चीज नई या पुरानी होने से महत्त्वपूर्ण नहीं होती, अपितु अपने गुण से महत्त्वपूर्ण बनती है। कभी-कभी तो एक ही लेखक अपने परवर्ती लेखन में पूर्ववर्ती लेखन को खारिज करता है। जैसे शरतचंद्र ने 'पाथेरदावी' को 'शेषप्रश्न' से किया। प्रगति को ऐसे ही समझा जाना चाहिए। पुत्र अपने पिता का विकास है और शिष्य अपने गुरु का। संस्कृत की एक उक्ति है कि धन्य है वह पिता, जो अपने पुत्र से पराजित हो और धन्य है वह गुरु, जो अपने शिष्य से।

श्री तिवारी के अधोगतिवादी मन को लग गया कि मैंने रेणु को महान बना दिया और प्रेमचंद की तौहीन कर दी। प्रेमचंद में तौहीन करने लायक कोई बात होती तो करने में मुझे कोई परेशानी नहीं थी। (जैसे उनसे भी पुराने तुलसी की तीखी आलोचना मैंने की है।) लेकिन प्रेमचंद तो मेरे प्यारे लेखक हैं। मेरी रगों में उनके शब्द और चित्र दौड़ते हैं। रेणु के लिए भी वे इतने ही महान थे, जितने किसी और के लिए। प्रेमचंद थे, इसलिए रेणु अपने साहित्य और ग्राम विमर्श में उनसे आगे जा सके। प्रेमचंद तो हिंदी कथा साहित्य के प्रस्थान बिंदु हैं और प्रस्थान-बिंदु का महत्त्व बना रहेगा। कुछ लोग वहीं टिके रहना चाहते हैं। मैं उनमें नहीं होना चाहता, क्योंकि यह प्रेमचंद का अपमान होगा।

(फारवर्ड प्रेस, अक्टूबर, 2012)

ओबीसी साहित्य की अवधारणा कितनी प्रासंगिक?

वीरेंद्र यादव

दलित साहित्य की तर्ज़ पर ओबीसी साहित्य की परिकल्पना एक विवादास्पद और जोखिम भरा मुद्दा है। विशेषकर तब, जब इसे ओबीसी समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों से विच्छिन्न करके जाति विशेष की पहचान तक सीमित रखा जाए। यह जातिगत पूर्वग्रह का ही परिचायक है कि भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद के साहित्य में तो ओबीसी तत्वों को दूरबीन से ढूंढा जाता है, जबकि गैर-पिछड़े समाज से आए लेखकों के उस साहित्य को नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है, जिनमें श्रमशील पिछड़े वर्ग और हाशिए के समाज की केंद्रीयता है। प्रश्न यह है कि यदि प्रभुत्वशाली अभिजन साहित्य परंपरा के बरक्स पिछड़े समुदाय की श्रमशील परंपरा की तलाश की जाती है तो वह साहित्य की विषयवस्तु के आधार पर की जानी चाहिए या कि लेखक की जाति के आधार पर?

1936 में प्रेमचंद ने लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ के स्थापना सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए लेखकों का आह्वान किया था कि, ''जो दलित है, पीड़ित है, वंचित हैं, चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उनकी हिमायत करना हमारा फ़र्ज़ है।'' लेखकों से यह मांग करने से पूर्व प्रेमचंद स्वयं अपने साहित्य में दलित, पिछड़े व हाशिए के समाज को केंद्रीयता प्रदान कर चुके थे। इतना ही नहीं, उन्होंने साहित्य की सौंदर्यदृष्टि की कसौटी बदलने की भी मांग की थी और यह करते हुए उन्होंने भारतीय समाज की ब्राह्मणवादी संरचना को भी चुनौती दी थी। प्रेमचंद की स्पष्ट मान्यता थी कि, ''हमारा स्वराज्य केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि उस सामाजिक जुए से भी, उस पाखंडी जुए से भी जो विदेशी शासन से कहीं अधिक घातक है।'' यह कहते हुए प्रेमचंद उसी वैचारिक धरातल पर खड़े थे, जहां जोतिबा फुले और डॉ. आंबेडकर, क्योंकि वे ब्राह्मणवाद की गुलामी को ब्रिटिश साम्राज्यवाद से कमतर नहीं आंकते थे।

प्रेमचंद की कहानी 'सवा सेर गेहूं' का शंकर कुर्मी और 'बाबा जी का भोग' का राजधन अहीर ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा नहीं, बल्कि वर्णाश्रमी ब्राह्मणवाद द्वारा उत्पीड़ित थे। कौन था 'गोदान' का होरी? होरी कोई द्विज न होकर पिछड़े समुदाय की

कुर्मी जाति का था। प्रेमचंद द्वारा पिछड़े समुदायों के पात्रों का यह चयन महज़ आकस्मिक न होकर उस सामंती वर्णाश्रमी सत्ता संरचना को अनावृत करने का परिणाम था, जो उनके शोषण के मूल में थी। प्रेमचंद अपने समूचे साहित्य में वर्णाश्रमी हिंदुत्व, उसकी जड़, मर्यादा एवं अतीतोन्मुखी महिमामंडन का प्रत्याख्यान करते हैं। यही कारण है कि प्रेमचंद के समकालीन ब्राह्मणवादी लेखकों ने उन्हें 'घृणा का प्रचारक' कहा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल सरीखे समालोचक ने उन्हें 'समाज सुधारक' और 'प्रोपेगैन्डिस्ट' करार देकर कमतर करने की कोशिश की।

प्रेमचंद की ही तर्ज़ पर कई और गैर-शूद्र और द्विज पृष्ठभूमि के लेखकों ने वर्ण और वर्ग से मुक्त होकर किसान, दलित, स्त्री एवं अन्य मेहनतकश समुदायों को अपनी रचनात्मकता का विषय बनाया। निराला, राहुल सांकृत्यायन, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', वृंदावन लाल वर्मा, नागार्जुन, रांगेय राघव और यशपाल सरीखे लेखक इनमें अग्रणी थे। मेहनतकश समुदाय के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के ही चलते निराला लिख सके थे कि

''आज अमीरों की हवेली/किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली/खोलेंगे अंधेरे का ताला,
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ''

और इसी का परिणाम था कि निराला को 'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत' की यातना से गुज़रना पड़ा था।

राहुल सांकृत्यायन ने अपने समूचे साहित्य में दलित और पिछड़ी जातियों के सामाजिक-आर्थिक शोषण का ऐतिहासिक व समसामयिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया। राहुल सांकृत्यायन का निष्कर्ष था कि ''हिंदुस्तान तो सबसे बड़े नरक में है, क्योंकि इसके ऊपर विलायती जोंकों की गुलामी भी है और अपनी भी।'' सामाजिक गुलामी का विमर्श रचते हुए जहां उन्होंने अपनी कहानी 'सतमी के बच्चे' में अहीर जाति की सतमी के अभावग्रस्त जीवन संघर्ष की यातना कथा कही है, वहीं 'रेखा भगत' सरीखी कहानी में जमींदारों के नृशंस अत्याचार के विरुद्ध पिछड़े समुदाय की प्रतिरोधी चेतना का वृत्तांत भी रचा है। पिछड़े समुदाय में प्रतिरोधी चेतना की इस उपस्थिति का रेखांकन राहुल सांकृत्यायन की प्रतिबद्ध सामाजिक दृष्टि का ही परिणाम है। इसी दृष्टि के चलते वे '1857' के 'प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' के उस मिथक का भी भेदन कर सके थे, जिसमें दलितों और पिछड़ों को उच्च जातियों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर लड़ने से रोका गया था। 'कनैला की कथा' में 1857 की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि, ''बड़ी जाति छोटी जातिवाले कैसे एक पांति में लड़ते?'' जातिगत भेद का खुलासा करके राहुल सांकृत्यायन 1857 के 'धर्मयुद्ध' की उस सत्ता-संरचना का विखंडन करते हैं, जिसमें दलित व शूद्र जातियों की अपनी कोई निर्णायक भूमिका नहीं थी और जो अंततः अंग्रेजी सत्ता व देशी कुलीन सामंती सत्ता के हितों की टकराहट का ही परिणाम था।

प्रेमचंद, निराला और राहुल सांकृत्यायन की ही तर्ज़ पर पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' और रांगेय राघव ने भी क्रमशः 'बुधुवा की बेटी' और 'गदल' जैसी कई कथा-रचनाएं लिखकर हाशिए के समाज को साहित्यिक प्रमुखता प्रदान की। इस संदर्भ में नागार्जुन का उपन्यास 'बलचनमा' तो एक समाजशास्त्रीय दस्तावेज़ सरीखा है। इस उपन्यास का मुख्य पात्र बालचंद्र (बलचनमा) जाति का गोप (अहीर) है। यहां यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि 'बलचनमा' सहित उपरोक्त समूचा लेखन रेणु द्वारा 'मैला आंचल' लिखे जाने के पूर्व किया जा चुका था।

विचारणीय यह है कि ओबीसी साहित्य की पूर्व-पीठिका क्या हो? ऐसा साहित्य, जिसमें पिछड़ी कृषक जातियों, शिल्पकारों एवं मेहनतकश समुदाय के संघर्ष व प्रतिरोधी चेतना को अभिव्यक्त किया गया हो या कि वह साहित्य, जो अनिवार्यतः पिछड़ों व शूद्र समुदाय व जाति के लेखकों द्वारा लिखा गया। यदि इस कसौटी पर भारतेंदु और मैथिलीशरण गुप्त सरीखे साहित्यकारों का आकलन किया जाए तो वे अपनी अंतिम परिणतियों में उस हिंदुत्व के पक्षधर और चातुर्वण्य के पोषक सिद्ध होते हैं, जो पिछड़ों व मेहनतकश समुदाय के शोषण का आधार तैयार करता है। भारतेंदु जिन हिंदू परंपराओं और अतीत का उद्दात्तीकरण करते हुए भारत दुर्दशा की तलाश करते हैं, उसी का स्वभाविक परिणाम है मुस्लिम संप्रदाय की निंदा और दलितों एवं श्रमशील जातियों की उपेक्षा। भारतेंदु द्वारा संपादित 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' व 'कवि वचन सुधा' के पृष्ठों पर दलित व पिछड़ों के प्रति दुराव व अभिजनवादी अभिव्यक्तियों की भरपूर बानगी देखी जा सकती है। वसुधा डालमिया ने अपनी पुस्तक 'द नेशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिंदू ट्रैडीशन्ज़' में इसका विस्तृत विश्लेषण किया है।

यह वास्तव में विडंबनात्मक है कि जिन मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में राष्ट्रप्रेम को हिंदुत्व का पर्याय मानते हुए चातुवर्ण के ह्रास पर पर चिंता प्रकट की हो, उनमें ओबीसी साहित्य की परंपरा तलाशी जा रही है। इस संबंध में 'भारत-भारती' की निम्न पंक्तियां दृष्टव्य हैं:

''ब्रह्म, राजन्यत्व, युत वैश्यत्व भी सब नष्ट है,
शूद्रत्व और पशुत्व ही अपशिष्ट है, हा! कष्ट है।''

उनके हिंदुत्व में बौद्धों के पराभव के प्रति यह विजय भाव भी शामिल है।

''यद्यपि सनातन धर्म की ही अंत में जय जय रही,
भगवान शंकर ने भगा दी बौद्ध भ्रांति भयावही''

प्रश्न यह है कि बौद्ध धर्म को 'भयावह भ्रांति' मानने वाले और वर्णाश्रम व्यवस्था के ह्रास पर रुदन करनेवाले मैथिलीशरण गुप्त को मेहनतकश ओबीसी समुदाय की साहित्यिक विरासत का पुरोधा कैसे माना जा सकता है? ओबीसी साहित्य की सैद्धांतिकी गढ़ते हुए जिन्हें मानवतावादी धरातल पर जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' ओबीसी साहित्य की कोटि में पांक्तेय नज़र आती है, वे 'गोदान' और 'बलचनमा'

सरीखी पिछड़े समुदाय की संघर्षगाथा को क्यों नज़रअंदाज़ करते हैं?

जब प्रेमचंद ने 'सौंदर्य की कसौटी' बदलने की बात कही थी तब वे हिंदी साहित्य की मुख्यधारा को अभिजनवाद से मुक्तकर श्रम की चेतना को केंद्रीयता प्रदान करना चाहते थे। जाति और वर्ण से मुक्त होकर साहित्यिक हस्तक्षेप करने का जो अभियान प्रेमचंद की पीढ़ी ने शुरू किया था, उसी का परिणाम था कि अशराफ़ सैयद कुलीन परिवार में जन्म लेकर भी राही मासूम रज़ा 'आधा गांव' सरीखा उपन्यास लिख सके, जिसमें हिंदू-मुसलमान, दोनों ही संप्रदायों के जुलाहे और अहीर सरीखे पिछड़ों की प्राथमिकता थी।

मैत्रेयी पुष्पा, वीरेन्द्र जैन, अब्दुल बिस्मिल्लाह, संजीव, शिवमूर्ति, भगवानदास मोरवाल, चंद्रकिशोर जायसवाल, रामधारी सिंह दिवाकर आदि लेखक इसी परंपरा की सुदृढ़ कड़ी हैं। क्या मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम्' और वीरेन्द्र जैन के 'डूब' सरीखे उपन्यासों की महज़ इसलिए अनदेखी की जानी चाहिए, क्योंकि वे क्रमशः ब्राह्मण और जैन पृष्ठभूमि के लेखकों द्वारा लिखे गए हैं?

यहां यह भी ध्यान दिए जाने की ज़रूरत है कि पिछड़े समाज की जातिगत पृष्ठभूमि के बावजूद संजीव, शिवमूर्ति, चंद्र किशोर जायसवाल, मधुकर सिंह, प्रेमकुमार मणि, भगवानदास मोरवाल, दिनेश कुशवाह और सुभाषचंद्र कुशवाहा सरीखे लेखक हिंदी साहित्य की मुख्यधारा के लेखक हैं। वे अपने साहित्यिक अभियानों द्वारा मुख्यधारा के साहित्य को बहुजन समाज के प्रश्नों और संघर्षशील चेतना से समृद्ध कर रहे हैं। इन लेखकों को ओबीसी की कोटि तक सीमित करना हिंदी साहित्य की मुख्यधारा को अभिजनवादी सरोकारों के आगे परोस देना है। जब साहित्य के कुलीन तंत्र द्वारा साहित्य के केंद्र से प्रेमचंद के 'होरी' को बेदखल करके अज्ञेय के 'शेखर' को स्थापित करने की तैयारी हो तो जाति के आधार पर किसी तरह का साहित्यिक विभाजन आत्मघाती और प्रतिगामी ही होगा।

किस तरह जाति साहित्य की निर्णायक कसौटी नहीं हो सकती, हिंदी के शीर्षस्थ लेखक राजेन्द्र यादव इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। हाशिए के समाज और दलित विमर्श की पक्षधरता के बावजूद राजेन्द्र यादव की स्वयं की स्वीकारोक्ति है कि उनका समूचा कथा साहित्य मध्यवर्गीय सरोकारों से ओत-प्रोत है। एक समय में उन्होंने इसे अस्वीकार करने की बात भी कही थी। अब यदि जाति को ही साहित्य की कसौटी माना जाएगा तो क्या राजेन्द्र यादव के कथात्मक लेखन को ओबीसी लिटरेचर के रूप में स्थापित करने की कसरत उसी तरह नहीं करनी पड़ेगी, जिस तरह भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद को लेकर की जा रही है।

ओबीसी साहित्य की सैद्धांतिकी गढ़ने की कवायद करते हुए जिन्हें बनिया पृष्ठभूमि के कारण गांधी की याद आती है, उन्हें यह न भूलना चाहिए कि गांधी आजीवन वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक रहे और हिंदुत्व उनके चिंतन का प्रस्थान बिंदु रहा है। हां, इस संदर्भ में डॉ. राममनोहर लोहिया का स्मरण हो जाना स्वाभाविक

ही है, जिन्होंने पिछड़ों के राजनीतिक चिंतन को सकारात्मक दिशा प्रदान की, लेकिन यह वास्तव में विडंबनात्मक ही है कि जिन लोहिया ने पिछड़ों की राजनीति को दिशा प्रदान की, उन्हीं के साहित्यिक अनुयायियों ने 'परिमल' जैसी साहित्यिक संस्था का गठन करके वामपंथ के विरोध के नाम पर साहित्य में कलावाद के दुर्ग को ही सुदृढ़ किया। यह अनायास नहीं है कि डॉ. धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, डॉ. रघुवंश, केशवचंद्र वर्मा, डॉ. लक्ष्मीकांत वर्मा, डॉ. जगदीश गुप्त सरीखे लोहिया भक्त साहित्य में आजीवन अज्ञेय की खेमेबंदी करते रहे। अतः लोहियावाद के साहित्यिक संस्करण की ओबीसी साहित्य की सैद्धांतिकी निर्धारण में कोई कारगर भूमिका तलाश करना बहुजन साहित्य को नख-दंतविहीन ही करना है।

आज ज़रूरत है कबीर, फुले, पेरियार, आंबेडकर सरीखे सामाजिक चिंतकों के वर्णाश्रम और ब्राह्मणवाद विरोधी चिंतन एवं बहुजन समाज के संघर्ष, स्वप्न और आदर्श को साहित्य में केंद्रीयता प्रदान करने की, न कि जाति के आधार पर साहित्य का एक अलग कुनबा बनाने की। जब साहित्य की मुख्यधारा बहुजन समाज के सरोकारों से जुड़ने का जतन कर रही हो, तब 'ओबीसी साहित्य' की किसी भी अवधारणा की न तो कोई आवश्यकता है और न ही औचित्य।

(फारवर्ड प्रेस, अप्रैल, 2012)

जिनकी सत्ता, उनका साहित्य

हरेराम सिंह

राजेंद्र यादव ने फारवर्ड प्रेस के साथ बातचीत में (देखें इस पुस्तक में पेज - 34) हिंदी साहित्य की पहचान करते हुए कहा था कि सारा साहित्य (दलित साहित्य को छोड़ कर) ब्राह्मणवादी साहित्य है; भले ही वह सीधा दिखाई न दे; लेकिन उसी फ्रेमवर्क में है। फ़णीश्वरनाथ रेणु का मैला आंचल भी! वहीं, अगले पल इसी साक्षात्कार में राजेंद्र कहते हैं कि ''इतिहास उनके होते हैं, जो अपनी जिंदगी के फ़ैसले ले सकते हैं।'' उसके बाद दलित साहित्य व साहित्यकार से स्वयं को भिन्न रूप में पेश करते हुए वे कहते हैं, ''इनके पास (दलितों के पास) कलात्मकता नहीं है, इन्हें कहने का तरीका नहीं आता। इस तरह का अहंकार चीजों को जज करने का और जजमेंट पास करने का हमें दो हजार साल के संस्कारों से मिला है, हम उस पावर के हिस्से हैं, जो चीज तय करते हैं। हो सकता है उनकी कला हमसे अलग हो या वे खुद रिजेक्ट करें, अभी तो हम रिजेक्ट कर रहे हैं न। हम बता रहे हैं कि कैसे लिखो, कैसे न लिखो।'' (वाक्य रचना संपादित)

राजेंद्रजी जैसे दलित-बहुजन समर्थक लेखक का यह साक्षात्कार कई जरूरी सवालों को जन्म देता है। मसलन, अगर हिंदी साहित्य का वह सब हिस्सा, जो दलित साहित्य के अंदर नहीं आता, ब्राह्मणवादी साहित्य है, या उसका फ्रेमवर्क ही ब्राह्मणवादी साहित्य का है, तो क्या आज जरूरी है कि हम (ओबीसी) उसी फ्रेमवर्क से अपना काम चलाएं या उसी के एक हिस्से के रूप में खुद की पहचान करें।

क्या सचमुच फ़णीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल' ब्राह्मणवादी साहित्य के फ्रेमवर्क में बंधा है, क्या 'मैला आंचल' उनके साहित्य से बहुत से मायनों में भिन्न नहीं है?

जब राजेंद्र यादव यह कह रहे हैं कि इतिहास उनके होते हैं, जो अपनी जिंदगी के फ़ैसले खुद ले सकते हैं, तो क्या साहित्य के क्षेत्र में ओबीसी अपना फ़ैसला स्वयं लेता या 'ओबीसी साहित्य' को अलग से रेखांकित करता है या उसका सिद्धांत गढ़ता है तो यह गलत है?

जब वे (सवर्ण) और दलित, साहित्य के क्षेत्र में फ़ैसले स्वयं ले रहे हैं तो क्या

यह ओबीसी के पास अधिकार नहीं है कि वह अपना फ़ैसला स्वयं ले और चीजों को स्वयं तय करे, जज करे, जजमेंट पास करे।

भारत की आधी से अधिक आबादी ओबीसी की है तो फि़र इसका अपना साहित्य क्यों नहीं हो सकता? अतीत में भी और वर्तमान में भी।

जब राजेंद्र यादव यह कहते हैं कि 'हम उस पावर के हिस्से हैं, जो चीजे तय करते हैं', तो क्या हम मान लें कि वर्तमान में हम (ओबीसी) सच में पावर का वह हिस्सा हैं, जो चीजे तय करता है?

राजेंद्र यादव के सुर में सुर मिलाते हुए वीरेंद्र यादव (देखें इस पुस्तक में पेज - 54) भी *फारवर्ड* प्रेस में लिखते हैं कि 'दलित साहित्य की तर्ज पर ओबीसी साहित्य की परिकल्पना एक विवादास्पद और जोखिमभरा मुद्दा है, विशेषकर तब, जब इसे ओबीसी समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों से विच्छिन्न करके जाति विशेष की पहचान तक सीमित रखा जाए। प्रश्न यह है कि यदि प्रभुत्वशाली अभिन्न साहित्य परंपरा के बरक्स पिछड़े समुदाय की श्रमशील परंपरा की तलाश की जाती है तो वह साहित्य की विषयवस्तु के आधार पर की जानी चाहिए या कि लेखक की जाति के आधार पर?' (बहुजन साहित्य वार्षिकी, फारवर्ड प्रेस, अप्रैल, 2012, पृष्ठ संख्या 24)

वीरेंद्र कहते हैं कि 'ओबीसी साहित्य की परिकल्पना विवादास्पद और जोखिमभरा है।' हिंदी के बौद्धिकों में साहस की इतनी कमी क्यों है? हिंदी का पिछला एक सदी का इतिहास बताता है कि जोखिम नहीं उठाने के कारण ही हिंदी का विमर्श क्षेत्र सिकुड़ता गया है। समय ने 'ओबीसी साहित्य' को जन्म दिया है। उसे रोकने का साफ़ मतलब यह हुआ कि हम हिंदी साहित्य के विकास को किसी न किसी रूप में रोक रहे हैं, क्योंकि हमारे भीतर सवर्ण मानसिकता का 'अहंकार' बैठा है। ओबीसी साहित्य को वर्ग के आधार पर और विषयवस्तु के आधार पर देखना अलग बात है। वीरेन्द्र यादव यह पहले से ही कैसे अनुमान लगा बैठे कि ओबीसी साहित्य की पहचान जाति विशेष की पहचान तक सीमित रहेगी, क्या 'ओबीसी' शब्द जाति का सूचक है, क्या यह भारतीय वर्ग का नाम नहीं है? पिछड़ा वर्ग की अंग्रेजी 'बैकवर्ड क्लास' ही है न कि कुछ और है।

प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', रांगेय राघव, नागार्जुन, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा, राही मासूम रजा की प्रगतिशीलता मात्र से पिछड़ों की प्रगतिशीलता व श्रमशीलता का साहित्यिक इतिहास खड़ा हो जाएगा? क्या अभी तक वे (ओबीसी) इनके ही फैसले मात्र पर अपनी जिंदगी, इतिहास, साहित्य छोड़ दें?

राजेन्द्र यादव और वीरेंद्र यादव का साहित्य सबका है; पर उन्हें और उनके साहित्य को 'ओबीसी' द्वारा पैदा किया गया है। इनके जातीय अनुभवों को विकसित करने में करोड़ों लोगों की भूमिका रही है। मार्क्सवादी आलोचक डॉ. ललन प्रसाद सिंह

ने बीएचयू में कहा था कि ओबीसी का सौंदर्यशास्त्र मार्क्सवाद पर आधारित है। कबीर, जोतिबा फुले, मार्क्स और बुद्ध इसके केंद्र में हैं। वीरेन्द्र यादव ने ओबीसी साहित्य को मात्र जाति से जोड़कर इसे सीमित करने का प्रयास किया है। दलित-ओबीसी के संबंध में वीरेंद्रजी का नजरिया साफ़ नहीं है।

राजेंद्र यादव क्या यह बता सकते हैं कि साहित्य अकादमी सम्मान (हिंदी), ज्ञानपीठ अवार्ड (हिंदी) अब तक सबसे अधिक सवर्णों या ब्राह्मणों को क्यों मिला? क्या वे बता सकते हैं कि कुम्हार, निषाद, चेरो, खरवार, कोयरी, अहीर के इतिहास पर अब तक बड़ा कार्य क्यों नहीं हुआ?

राजेंद्र-वीरेंद्रजी आप खुद अपनी बातों का स्मरण कीजिए- 'सत्ता जिनके पास होगी साहित्य उनका होगा या जो सत्ता के अधीन हैं, उनका होगा?' अब निर्णय लेना होगा, हम कहां खड़े हैं?

(फारवर्ड प्रेस, जुलाई, 2012)

ओबीसी नायकों ने किया दलित चेतना का विकास

चौथीराम यादव

हमारे देश में जितने भी सांस्कृतिक आंदोलन हुए, उनमें ओबीसी नायकों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण रही है। सामाजिक परिवर्तन में उनके योगदान को नकारना बेमानी होगा। बहुजन समाज के प्रवक्ता और आधारस्तंभ दोनों आंबेडकर रहे हैं। इसके मद्देनजर अगर आंबेडकर से पहले के ओबीसी नायकों पर बात की जाए तो उन्होंने दलित आंदोलन के जरिए जो सबसे पहला काम किया, वह धार्मिक वर्चस्व को तोड़ने का था। चूंकि तब समाज में जाति, धर्म, संप्रदाय की श्रेष्ठता के बोध तले ब्राह्मणवादी व्यवस्था कायम थी, इसलिए सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक विषमता बहुत बुरी तरह फैली हुई थी। ओबीसी समाज से जो नायक निकले, उन्होंने इस विषमता को तोड़ने के लिए ब्राह्मणवाद और सामंतवाद के खिलाफ आवाज उठाई। चूंकि ब्राह्मणवादी विचारधारा की पोषक सामंतवादी व्यवस्था होती है, इसलिए सामाजिक विषमता को खत्म करने के लिए इसके खिलाफ आवाज उठनी भी जरूरी थी। ब्राह्मणवाद वर्ण व्यवस्था का समर्थन करने के साथ-साथ मनुष्य के ऊपर मनुष्य की श्रेष्ठता का समर्थन करता था और आदमी को आदमी से अलग करता था। इसी कारण धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक शोषण के खिलाफ आंदोलन की जरूरत महसूस हुई।

एक होता है राजनीतिक आंदोलन और दूसरा होता है सांस्कृतिक आंदोलन। राजनीतिक आंदोलन समय-समय पर लोगों ने किया। साहूजी महाराज ने किया, पेरियार ने किया और लोगों ने अपने-अपने समय पर आंदोलन चलाया। आगे चलकर डॉ. आंबेडकर ने राजनीतिक आंदोलन बहुत व्यापक रूप में पूरे देश में चलाया। उत्तरप्रदेश में भी आंबेडकर के आंदोलन का बहुत गहरा प्रभाव और प्रसार हुआ। शुरुआत में दलित आंदोलन और दलित साहित्य का ओबीसी के नायकों ने विकास किया। इसे अगर देश के स्तर पर देखें तो जोतिबा फुले ओबीसी थे। साहूजी महाराज ओबीसी थे। पेरियार ओबीसी थे और उत्तर भारत में ललईसिंह यादव, रामस्वरूप वर्मा और सभी लोग दलित आंदोलन के मजबूत पक्षधर थे। इन लोगों ने आंदोलन चलाया और उसको आगे बढ़ाया। इन्होंने दलितों की समस्याओं और समाज में उनकी स्थिति को लेकर नाटक लिखे। आश्चर्य की बात है कि दलित इनके महत्त्व को मानते हैं, लेकिन ओबीसी

के लोग जानते ही नहीं कि रामस्वरूप वर्मा या ललईसिंह यादव की किताब क्या है। इन लोगों ने दलितों के नायकों पर नाटक लिखे। ललईसिंह यादव ने पांच नाटक लिखे, जिनमें शंबूक वध और एकलव्य काफी प्रसिद्ध हैं। इस तरह वर्चस्ववादी व्यवस्था के खिलाफ लंबा आंदोलन चला है, बाद में लालू प्रसाद यादव, मुलायम और मायावती ने इसका विकास किया, लेकिन बाद में ये लोग सत्ता की राजनीति करने लगे यानी राजनेता से इतर ये लोग पिछड़ों-दलितों के बीच सामाजिक परिवर्तनकारी राजनीति नहीं कर सके। इनकी राजनीति कुर्सी तक सीमित हो गई।

जहां तक ओबीसी समाज में सांस्कृतिक आंदोलन का सवाल है तो सांस्कृतिक आंदोलन में एक समाज की कला, साहित्य और संस्कृति आदि सब चीजों का विकास होता है। सांस्कृतिक आंदोलन दलितों-पिछड़ों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस समाज की सबसे बड़ी समस्या ही सांस्कृतिक पिछड़ापन है, जिसे व्यापक आंदोलन के स्तर पर चलाया जाना चाहिए।

विषमता को मिटाने के लिए जोतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले का योगदान अविस्मरणीय है। जोतिबा फुले ने इन विषमताओं को लेकर एक किताब 'गुलामगिरी' लिखी, जिसका अंग्रेजी में भी अनुवाद हो चुका है। इस किताब में उन्होंने ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष, स्त्री शिक्षा, किसानों और खेतिहर मजदूरों, दमितों-दलितों, शोषितों को आवाज देने का काम किया। फुले दंपत्ति के शिक्षा, खासकर स्त्री शिक्षा के लिए योगदान को इसी से समझा जा सकता है कि उन्होंने महाराष्ट्र में स्त्रियों के लिए पहला स्कूल खोला, जोकि भारत में भी महिलाओं का पहला स्कूल था। स्त्री शिक्षा की दिशा में फुले दंपत्ति द्वारा उठाए गए इस कदम का सवर्णों ने खासा विरोध किया। सवर्ण समाज में स्त्री शिक्षा वर्जित थी, सवर्ण महिलाएं तो दलितों से भी महादलित थीं। वे 100-150 साल पहले तक घर से बाहर कदम नहीं रख सकती थीं। एक ऐसे समाज में फुले दंपत्ति का स्त्री शिक्षा के लिए स्कूल की स्थापना करना निश्चय ही साहसिक कदम था। सावित्रीबाई फुले घर से बाहर निकलकर पढ़ाने का काम करने वाली पहली शिक्षिका थीं, जब वे स्कूल के लिए निकलतीं थी, तो अपने साथ घर से हमेशा एक अतिरिक्त साड़ी लेकर चलती थीं, क्योंकि उन्हें तंग करने और स्त्री शिक्षा का विरोध करने के लिए उन पर गोबर और पत्थर फेंके जाते थे, उन पर भद्दी फब्तियां कसी जाती थीं, मगर फिर भी वे पीछे नहीं हटीं। मगर ताज्जुब की बात यह है कि सवर्णों ने फुले दंपत्ति के शिक्षा, खासकर स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में किए गए काम को कभी उस तरह तवज्जो नहीं दी, जिस तरह राजा राममोहन राय को। खास बात तो यह है कि राजा राममोहन राय के समय तक शिक्षा का काफी प्रचार-प्रसार हो चुका था। सही मायनों में देखा जाए तो फुले दंपत्ति के संघर्ष ने महाराष्ट्र में दलित आंदोलन की नींव रखने का काम किया।

दक्षिण भारत में दलित मसीहा के बतौर रामासामी पेरियार को देखा जाना चाहिए। पेरियार ने ब्राह्मणवाद के खिलाफ वहां एक वृहद् आंदोलन की नींव रखी। उन्होंने दक्षिण

भारत में दलितों के मंदिरों में प्रवेश के लिए आंदोलन किया। ताज्जुब की बात यह है कि जब पेरियार ने मंदिर आंदोलन की शुरुआत की, तब दलितों का मंदिर में प्रवेश करना तो दूर, जिस रास्ते में मंदिर बना हो, उस रास्ते से जाना तक वर्जित था। जानवरों से भी बदतर हालत थी दलितों की। हालांकि कुछ कांग्रेस नेताओं के कहने पर ही उन्होंने वाईकम आंदोलन का नेतृत्व स्वीकार किया, जो मंदिरों की ओर जाने वाली सड़कों पर दलितों के चलने की मनाही को हटाने के लिए संघर्षरत था, मगर बाद में युवाओं के लिए कांग्रेस संचालित प्रशिक्षण शिविर में ब्राह्मण प्रशिक्षकों द्वारा गैर-ब्राह्मण छात्रों के प्रति भेदभाव बरतते देख उनका मन कांग्रेस से उखड़ने लगा। उन्होंने कांग्रेस नेताओं के समक्ष दलितों के लिए आरक्षण का प्रस्ताव भी रखा, जिसे नामंजूर कर दिया गया, इसलिए उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी। पेरियार के खिलाफ भी ब्राह्मणवादी विचारकों ने एक नए आंदोलन की शुरुआत कर दी। महात्मा गांधी ने पेरियार विरोधियों को समझाया कि उनकी बात मानकर दलितों को मंदिरों के रास्तों पर चलने की इजाजत दे दी जाए, नहीं तो पेरियार दलितों के मंदिर प्रवेश के लिए भयंकर आंदोलन करेंगे। चूंकि पिछड़ा-दलित समुदाय पेरियार के साथ था, इसलिए कांग्रेस की साख खत्म हो रही थी और गांधी को कांग्रेस की साख बचाने की चिंता थी। गांधी भी पेरियार के साथ नहीं थे।

इसी तरह कोल्हापुर के साहूजी महाराज, जो खुद आज के ओबीसी समुदाय से आते थे, दलितों के असली नायक साबित हुए। वे कोल्हापुर के राजा थे। उन्होंने अपने राज्य में सबसे पहले दलितों-पिछड़ों के लिए 51 प्रतिशत आरक्षण देकर हर क्षेत्र में समतामूलक समाज की स्थापना की शुरुआत की। उन्हें आरक्षण का जनक भी कहा जाता है, क्योंकि साहूजी महाराज ने ही सबसे पहले भारतवर्ष में दलितों-पिछड़ों को आरक्षण देने की शुरुआत की। वे महिलाओं के लिए शिक्षा सहित कई प्रगतिशील गतिविधियों के साथ भी जुड़े थे। उन्होंने गरीबों, किसानों, मजदूरों, दबे-कुचले लोगों को प्रशासन में भागीदारी दी। साहूजी महाराज शासन-प्रशासन, धन, धरती, व्यापार, शिक्षा, संस्कृति व सम्मान-प्रतिष्ठा सभी क्षेत्रों में आनुपातिक भागीदारी के प्रबल समर्थक थे। उनका नारा भी था, 'जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी हिस्सेदारी, जिनकी जितनी हिस्सेदारी, उसकी उतनी भागीदारी, जिसकी जितनी भागीदारी, उसकी उतनी जिम्मेदारी।'

जहां तक ओबीसी नायकों की भारतीय समाज तथा साहित्यिक, अकादमिक अध्ययनों में वह पहचान नहीं बन सकी, जिसके वे हकदार थे, का सवाल है तो, यह समझने की जरूरत है कि ओबीसी का कोई अकादमिक केंद्र नहीं रहा है, हालांकि आज के दौर में देखा जाए तो ओबीसी वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ हर जगह मौजूद हैं। जहां तक साहित्य जगत में ओबीसी के हाशिए पर रहने का सवाल है, तो राजेंद्र यादव से पहले किसी ने इस पर बात ही नहीं की। हालांकि मौजूदा समय में काफी लोगों ने इस दिशा में पहल करनी शुरू कर दी है। *(प्रेमा नेगी से बातचीत पर आधारित)*

(फारवर्ड प्रेस, मई, 2014)

सबसे बड़ा है ओबीसी साहित्य का दायरा

हरिनारायण ठाकुर

वैश्वीकरण में मुक्त व्यापार और मुक्त संचार ने जहां विश्व को आर्थिक उदारता दी है, वहीं उसने साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र को भी अधिक उदार और व्यापक बनाया है। वैश्वीकरण की और चाहे जो भी सीमाएं हों, पर इसकी मुक्ति चेतना में हाशिए की चीजों को भी महत्त्व के केंद्र में स्थापित करने की प्रवृत्ति है। संचार-क्रांति इसे और व्यापक बना रही है। इसके पैरोकारों का कहना है कि जिस प्रकार बांध टूट जाने से पानी समुद्र की सतह पकड़ लेता है, उसी प्रकार मुक्त व्यापार और बाजार से धनी देशों की पूंजी और पैसे गरीब और विकासशील देशों में जाएंगे, वहां की गरीबी में कमी आएगी और समानता बढ़ेगी। भावों और विचारों का भी वही हाल है। कोई माने-न-माने, जिस प्रकार 'ब्लैक लिटरेचर' का प्रभाव मराठी के 'दलित साहित्य' पर पड़ा, उसी प्रभाव में हिंदी का 'दलित साहित्य' भी उदित हुआ। भारत जैसे दुनिया के सर्वाधिक बहुलतावाले देश में बहुराष्ट्रीय कंपनियों और निजी सत्ता प्रतिष्ठानों को भी अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा अन्य यूरोपीय देशों की तरह डायवर्सिटी के तहत वंचित और पिछड़े समाजों को अवसर देने ही पड़ेंगे। भारतीय लोकतंत्र अभी केवल राजनीति तक सीमित है। सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र कायम होना अभी बाकी है।

इसलिए अस्मिताओं और अस्तित्व की टकराहटें हैं। अस्मिताओं की इस उथल-पुथल और टकराहटों ने अनेक नए सांस्कृतिक और साहित्यिक विमर्शों को जन्म दिया है। दलित, स्त्री, आदिवासी, मुस्लिम, सिख, ईसाई, प्रवासी और अन्य नए विमर्श तेजी से उभर रहे हैं। ऐसे में ओबीसी या शूद्र साहित्य विमर्श भी एक नया विमर्श है, जिसका दायरा अन्य विमर्शों से बड़ा है।

अस्मितामूलक साहित्य : दलित साहित्य वह है, जिसमें दलितों को नायकत्व प्राप्त हो, स्त्री साहित्य वह है, जिसमें स्त्रियों का नेतृत्व हो, आदिवासी, अल्पसंख्यक, प्रवासी आदि तमाम विमर्शों को लेकर लगभग यही सच्चाई सामने आती है। भोगे हुए यथार्थ के नाम पर ऐसे तमाम हक तो उन्हें मिल ही जाते हैं, तो क्या शूद्र; स्मरण

रहे फुले ने पिछड़ों को शूद्र और अछूतों को अतिशूद्र कहा था अथवा ओबीसी साहित्य का मामला भी यही नायकत्व नहीं है? वह रचना, जिसमें तमाम विघ्न-बाधाओं को तोड़ता हुआ पिछड़े वर्ग का नायक एक प्रतिमान खड़ा करता है, ओबीसी या शूद्र साहित्य है।

इस दृष्टि से देखें, तो साहित्य, संस्कृति, समाज और राजनीति में ओबीसी नायकों की कमी नहीं है। उनके नायकत्व को साहित्य में कभी इस दृष्टि से देखा ही नहीं गया, जिस दृष्टि से हाशिए के अन्य विमर्शों ने अपने नायकों को देखा है, किंतु क्या जैसे-तैसे केवल नायकत्व और जीत दिला देना ही ओबीसी साहित्य की अस्मिता और पहचान हो सकती है, इसके पीछे कोई सिद्धांत या विचारधारा नहीं हो सकती?

ओबीसी साहित्य का समाजशास्त्र और राजनीति : ओबीसी या पिछड़ा कोई जाति नहीं, एक संवैधानिक वर्ग है, जिसमें हिंदू, मुस्लिम और अन्य अल्पसंख्यक समुदाय की सैकड़ों जातियां शामिल हैं, जिन्हें 'मंडल कमीशन' के तहत देश में और स्थानीय सामाजिक-शैक्षणिक और आर्थिक स्थिति के अनुरूप कुछ प्रांतों में सरकारी नौकरियों में आरक्षण प्राप्त है। इनमें से नाई, कहार, कुम्हार, कानू, कुंजरा, कबारी, मल्लाह, तांती, नट, बंजारा, जुलाहा, धुनिया, धोबी; मुस्लिम, धनकार, लोहार आदि ऐसी सैकड़ों कामगार जातियां हैं, जिनकी स्थिति दलितों से भी बदतर है। यह सच है कि दलित अछूत समझे जाते थे और सवर्ण समाज उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता था। सदियों तक वे अपमान और वर्ण-व्यवस्थाजनित अमानवीय शोषण और यातनाओं के शिकार हुए, पर पिछड़े समाज के लोग सवर्ण समाज के सीधे संपर्क में रहे। उनके दास-दासी और मजदूर बनकर दलितों से भी अधिक सामंती जुल्म सहे, बेगारियां कीं, परिवार सहित दिन-रात उनकी सेवा की, बदले में तिरस्कार, अपमान और पशुवत् व्यवहार के शिकार हुए। वस्तु की तरह उनका क्रय-विक्रय होता रहा। दहेज के रूप में इनकी बहू-बेटियां मालिकों की बेटियों की दासी बनकर उनके ससुराल जाती रहीं और रखैल का जीवन जीती रहीं। इन शूद्रों से व्यक्तिगत संपति का अधिकार भी छीन लिया गया। इन्हें सदियों तक गुलामों की जिंदगी जीनी पड़ी। गांवों में हाल-हाल तक वे बंधुआ मजदूरों की जिंदगी जीते रहे हैं। खोजने पर छिटपुट उदाहरण आज भी मिल जाएंगे। जीविका का कोई अन्य विकल्प नहीं होने के कारण वे दुख-अपमान सहकर भी मालिकों की सेवा में लगे रहे।

चूंकि इनके सामाजिक और आर्थिक सरोकार सीधे तौर से सामंती जातियों से जुड़ते थे, अतः उनकी शुद्धता और श्रेष्ठता एवं अपनी जीविका की रक्षा के लिए उन्हें भी दिखावे के तौर पर दलितों के साथ अछूतपन का ही व्यवहार रखना पड़ा। यह ब्राह्मणवाद की श्रेणीगत असमानता थी, जो ऊपर से नीचे तक हर जाति में व्याप्त थी, किंतु पिछड़ी जातियों के मन में दलितों के प्रति सहानुभूति और उदारता बनी रही। दलितों की तो बस्तियां अलग थीं, अतः फुर्सत के समय उन्हें अपने समाज के साथ

दुःख मनाने और क्षोभ व्यक्त करने का भी अवसर और अवकाश था, पर शूद्र या ओबीसी कामगार जातियों के पास तो वह भी सहूलियत नहीं थी, क्योंकि उन्हें सवर्ण समाज के बीच ही घर बसाकर रहना पड़ता था। इसलिए वे मार खाकर भी रो नहीं सकते थे। यशपालजी की एक कहानी है-'दुःख का अधिकार', जिसमें तरबूज बेचनेवाली एक औरत बाजार में बैठी तरबूज भी बेच रही है और रो भी रही है। कल ही सांप काटने से उसके बेटे की मृत्यु हो गई थी। वह तरबूज काटने खेत में गया था। वहीं एक विषैला सांप तरबूज की लतर में छिपा था। घर में दो-चार दिन बैठकर उसे बेटे की मौत का गम मनाने की भी फुर्सत नहीं है। पेट की मार उसे बाजार तक ले आई है। रह-रहकर उसके आंसू फूट पड़ते हैं। प्राचीन काल, मध्यकाल और आधुनिक काल में भी उनकी लगभग यही स्थिति रही। स्त्रियों की भी स्थिति लगभग यही थी, पर उसका स्वरूप अलग था। इसलिए मक्खली गोशाल, कबीर से लेकर महात्मा फुले तक, जो आंदोलन चले, उनमें दलित-पिछड़ों को लेकर वर्ण और जाति व्यवस्था का विरोध हर काल में कॉमन रहा, पर कालक्रम से उनमें मुस्लिम अल्पसंख्यक और स्त्रियों की समस्या और स्थिति भी जुड़ती चली गई। कबीर ने जाति और वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ हिंदू-मुस्लिम सवालों और संकीर्णता को उठाया। जाहिर है, बुद्ध के समय मुसलमान नहीं थे, पर फुले तक आते-आते इसमें स्त्रियों के सवाल भी शामिल हो गए। राजाराम मोहन राय ने सती-प्रथा के खिलाफ आंदोलन अवश्य छेड़ा, पर स्त्रियों की अन्य समस्याओं की ओर उनका ध्यान नहीं गया। फुले ने पहली बार स्त्री को भी दलित कहा और स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह, विधवा-जीवन, कन्या भ्रूण-हत्या आदि सवालों को उठाया और उसके लिए आंदोलन चलाए। फुले ने शूद्रातिशूद्र आंदोलन चलाकर ब्राह्मणवाद के खिलाफ सीधे विद्रोह कर दिया। गांधी के दलितोद्धार केवल छुआछूत तक सीमित थे, पर डॉ. आंबेडकर ने तो तमाम आंदोलनों का निचोड़ रख दिया। बाबासाहेब के आंदोलन में दलित, ओबीसी, मुस्लिम और स्त्री की तमाम समस्याएं शिद्दत से आई हैं, किंतु 1932 में 'पूना-पैक्ट' से जब दलितों को आरक्षण मिल गया, तो पिछड़े वर्गों में व्यापक प्रतिक्रिया हुई और इस वर्ग के नेता, लेखक और बुद्धिजीवी संघ-संगठन बनाकर अपने हक की मांग करने लगे। वे बाबासाहेब के आंदोलन के पूरक बने, समानांतर नहीं। परिणामस्वरूप बाबासाहेब ने संविधान में 'अन्य पिछड़ा वर्ग' नामक अध्याय धारा 340 जोड़ी।

पिछड़े वर्ग के तत्कालीन समाजसेवी, नेता और लेखक : आरंभ में आर्यसमाजी जोश में पिछड़ों में जो जातीय संगठन बने, उनमें 'कृण्वन्तु विश्वमार्य' के आधार पर जनेऊ धारण करने एवं अपने आपको श्रेष्ठ ब्राह्मण या क्षत्रियों के वंशज कहलाने की होड़ मची, पर जब सवर्णों ने ऐसे प्रयासों का विरोध किया, तो पिछड़ों का आंदोलन 'त्रिवेणी संघ' के रूप में और फिर 'पिछड़ा वर्ग संघ', 'अर्जक समाज'

आदि आंदोलनों के रूप में आधुनिक विकल्प बनकर आगे बढ़ा। इनके नेता और समाजसेवियों में प्रमुख नाम हैं : बिहार से 'त्रिवेणी संघ' के संस्थापक बाबू दासू सिंह, नवदीप चन्द्र घोष, गुरूपहाय लाल, गणपति मंडल आदि तथा आरएल चंदापुरी, चुल्हाई साहू, संत प्रसाद गुप्त, जगदेव प्रसाद, राम लखन सिंह यादव, देवशरण सिंह, राम अवधेश सिंह आदि। उत्तर प्रदेश से डॉ. बदलू राम 'रसिक', रामस्वरूप वर्मा, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, द्वारका प्रसाद मौर्य, दुर्गादत्त सिंह कुशन, शिवदयाल सिंह चौरसिया, दुर्गादीन साहू, छेदी लाल साथी, बाबूलाल प्रजापति, कुंवर उदय वीर सिंह आदि। दिल्ली से रामप्रसाद सैनी, प्यारे लाल सोनकर, पृथ्वीपाल सिंह, ज्ञानेन्द्र नाथ, भैरव प्रसाद चन्द्र, रामप्रसाद धनगर, सरदार मोहन सिंह, भगवान दास सेठ, बिहारी लाल, जीडी चौरसिया, जीपी यादव, बदन सिंह पाल आदि। मध्य प्रदेश से डॉ. इन्द्रजीत सिंह, खूबचंद पटेल, चिंतामणि साह, गोखुल प्रसाद सैनी, कन्हैया लालजी आदि। पंजाब से डॉ. हजारी लाल, संतराम बीए, अमीर सिंह, चौधरी चानन सिंह, सीताराम सैनी आदि। पश्चिम बंगाल से आशुतोष दास, एसके सरकार, उपेन्द्र नाथ बर्मन, गौरसुंदर नाथ, खलीलुर्रहमान अंसारी, विवेकानंद विश्वास आदि। ओडिशा से यदुमण मंगराज, डॉ. पी पारीजा, लक्ष्मी नारायण साहू आदि। राजस्थान से महंथ लक्षानंद, घीसाराम जाट, कालू राम राठौर, स्वामी परमानंदजी भारती, संतोष सिंह कछवाहा, छोटेलाल सुखाजी, राम स्वरूपचंद लाल आदि। मुम्बई से केएस डोंडकर, डब्लू सिंह वाग, जीसी बोबाड़े, केपी साह, एसआर लोण्ढे, आरबी राउत, डीआर गाढ आदि, आंध्र प्रदेश से जी. लच्छना, डॉ. एन. चेन्ना रेड्डी, जीआर वर्मा, के. कामराजू, ए. हुसैनप्पा, टीएन विश्वनाथ रेड्डी। मैसूर कर्नाटक से बी. गोपाल रेड्डी, एनसी देशप्पा, पी. मरियप्पा, केजी देशप्पा, केपी बोडियर, एम. बीरप्पा, एनबी कृनप्पा आदि। मद्रास तमिलनाडु से वीएम घटिकाचलम, एनई मनोरम, एस. रामानाथन, एमए नायर आदि। केरल में क्रिश्चियन पिछड़ा वर्ग संगठन से पीएम अब्राहम, पी. नीलकंठ, बीडी जॉन, ईपी वर्गीज आदि। असम से जीतेन्द्र नाथ चौधरी, हीरालाल गुप्ता, गौरमोहन दास, चारू बर्मन, सोनाराम फूकम, गिरधारी दास, ज्ञान मोहन दास, एमएन सैकिया, नीलाम्बर दास आदि।

आजादी की लड़ाई के दौरान शुरू हुए इन आंदोलनों के कारण ही पिछड़ों में राजनीतिक चेतना आई और समाजवादी आंदोलनों के परिणामस्वरूप अनेक राज्यों में पिछड़ों का नेतृत्व और शासन हो गया। आजाद भारत में यह चेतना सबसे पहले कर्पूरी ठाकुर में आई, फिर कांशीराम ने इसे धार दी। लालू यादव ने संपूर्णता के साथ दलित-पिछड़े और अल्पसंख्यक एजेंडे को राजनीति में शामिल किया और सफल हुए। बिहार में कर्पूरी ठाकुर, लालू यादव, नीतीश कुमार, रामविलास पासवान, यूपी में चौधरी चरण सिंह, कांशीराम, मुलायम सिंह यादव, मायावती, हरियाणा में देवीलाल, तमिलनाडु में करुणानिधि, कर्नाटक में देवेगौड़ा आदि इसी चेतना के प्रतीक और उपज हैं। आज की राष्ट्रीय राजनीति का केंद्र भी पिछड़े वर्ग के प्रतिनिधि और प्रतीकों पर टिका है। इसी चेतना को भुनाने के लिए भाजपा जैसी राष्ट्रीय पार्टी को भी आज

नरेन्द्र मोदी के रूप में पिछड़ा चेहरा आगे करना पड़ा है, किंतु चाहे पिछड़ी राजनीति हो या दलित राजनीति आज फुले और बाबासाहेब के मार्ग से भटकती हुई दिखाई दे रही है, जिसका लाभ मनुवादी ताकतों को मिल रहा है।

ओबीसी साहित्य का स्वरूप और संभावनाएं : ओबीसी साहित्य पर काम नहीं हुए हैं, अन्यथा वैश्य समाज सहित पिछड़े वर्ग के जो हिंदी कवि, साहित्यकार थे या हैं, उनमें दलित-पिछड़ी चेतना के अनुरूप संवेदना, कथ्य, पात्र और परिस्थितियों का चित्रण अवश्य मिलता है। आजादी के पूर्व फुले, पेरियार, नारायण गुरु, भारतेन्दु, संतराम बीए, रामस्वरूप वर्मा, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु आदि सक्रिय रूप से इन्हीं दलित-पिछड़ी चेतना के अनुरूप लिख रहे थे। इनमें से कुछ लोग आजादी के बाद भी सक्रिय रहे। भारतेन्दु की चेतना में 'वैदिक हिंसा' पर व्यंग्य, 'भारत दुर्दशा' में ब्राह्मण-श्रमण विवाद पर प्रहार आदि ऐसे अनेक स्थल हैं, जहां से ओबीसी विमर्श की खोज की जा सकती है। उसी प्रकार जयशंकर प्रसाद भले ही ब्राह्मणवादी चेतना के साहित्यकार हों, किंतु उनका अंतिम चिंतन 'कंकाल' उपन्यास में आया है, जहां उन्होंने धर्म के पाखंड और संस्कृति की धज्जियां उड़ाई हैं। भिखारी ठाकुर के भोजपुरी नाटकों में ओबीसी साहित्य की आत्मा बसती है। उनके नाटकों के प्रायः सभी नायक-नायिका और पात्र इसी पिछड़े वर्ग के हैं। वातावरण और परिस्थिति भी पिछड़े समाज के ही हैं। रेणु की रचनाओं की बनावट-बुनावट तो वैसी है ही, उनकी संवेदना और कथ्य भी पिछड़े समाज के हैं। चाहे 'संवदिया', 'ठेस', 'तीसरी कसम', 'लालपान की बेगम', 'पंचलाइट', 'रसप्रिया', 'रसूल मिसतिरी' जैसी कहानियां हों या 'मैला आंचल', 'परती परिकथा' जैसे उपन्यास-सभी के नायक और परिवेश यही पिछड़ा और उनका पिछड़ा समाज है। उसी प्रकार संजीव के उपन्यास और कहानियों में नाई, कहार, लोहार, कुम्हार नायकों को देखा जा सकता है। चन्द्रकिशोर जायसवाल, रामधारी सिंह दिवाकर, सुरेन्द्र स्निग्ध, दिनेश कुशवाहा आदि की रचनाएं भी ऐसे ही कथ्य, शिल्प, पात्र और पिछड़े जीवन की संवेदनाओं से भरी पड़ी हैं। ऐसी रचनाएं और लिखी जा रही हैं। यह प्रवृत्ति और बढ़ेगी।

ओबीसी साहित्य के सिद्धांत और सीमाएं : आज के वैज्ञानिक जीवन का जैविक सच यह है कि मानवेतर प्राणि और वनस्पतियों में क्रॉस ब्रीड से उत्तम नस्लें तैयार की जाती हैं। यही सच मानव प्राणी का भी है। किंतु वर्ण और जाति-व्यवस्था द्वारा बड़ी होशियारी से इसे दलित और पिछड़ों के हक में निषेध कर दिया गया। विवाह को जाति और वर्णों में तो सीमित कर दिया गया, पर शूद्रों के लिए सगोत्रीय और द्विजवर्णी जातियों के लिए विगोत्रीय विवाह की व्यवस्था की गई, जिससे द्विजवर्णी जातियों में नस्ल सुधार तो हुए, पर दलित और पिछड़ों में ऐसा नहीं हुआ। स्मरण रहे यह प्रथा भारतीय समाज में आज तक प्रचलित है। उसकी देखा-देखी मुस्लिम समाज

में भी यह प्रथा समा गई। और तो और कायस्थों में भी शूद्रों की तरह शादियां सगोत्रीय ही होती हैं, क्योंकि कायस्थ भी शास्त्र से शूद्र ही हैं। उनमें भी नस्ल सुधार की वही समस्या है, जो शूद्रों में है। इसलिए जाति-प्रथा के उन्मूलन और नस्ल सुधार के लिए फुले, बाबासाहेब आंबेडकर, पेरियार, डॉ. राममनोहर लोहिया, कर्पूरी ठाकुर आदि सभी ने 'अंतरजातीय विवाह' पर बल दिया था, तो क्या अस्मिता विमर्श से अंतरजातीय शादियां रुक जाएंगी और समाज सीमित हो जाएगा? ऐसा बिलकुल भी नहीं है।

यह कटु सत्य है कि अंतरजातीय शादियां पहले उसी समाज से शुरू हुईं, जिस समाज या उसके सुधारवादी नेताओं ने इसका विरोध किया था। तमाम विरोधों के बावजूद गांधी के पुत्र देवदास गांधी ने ब्राह्मण लड़की से शादी की। इंदिराजी सहित तमाम अंतरजातीय विवाह उच्च वर्ग के ऊंची नस्ल और जातियों में हुए। आज भी मुस्लिम समाज के शेख-सैयद-पठानों की शादियां यदि ब्राह्मण समाज में होती हैं, तो इसमें जाति नहीं नस्लगत समानता पाई जाती है। अधिकांश मुस्लिम नेताओं की शादियां ऐसी ही हैं। कुछ अपवाद संपन्न दलित या पिछड़ों में देखे जा सकते हैं, पर यह सामान्य प्रवृत्ति नहीं है। फिर अंतरजातीय विवाह से जातियां टूटती कहां हैं? जातियां पितृसमाज में पिता की और मातृसमाज में माता की जातियों के रूप में बदल जाती हैं। इसलिए ऐसे विमर्शों से कोई फर्क पड़नेवाला नहीं है, उलटे उनकी सम्मानजनक स्थिति देखकर दूसरे समाज के लोग प्रभावित होंगे और शादियां होती हैं, तो इसमें मनाही कहां है?

ओबीसी साहित्य के संबंध में दूसरी आशंका यह जताई जा सकती है कि यह वर्ग विमर्श से अलग जाति विमर्श में बंट जाएगा। ऐसी आशंका 'साहित्य में आरक्षण' वाले प्रसंग पर नामवर सिंह सहित कई विद्वानों ने जताई थी। इस प्रसंग में जब मैंने नामवर जी से पूछा, तो उन्होंने प्रतिप्रश्न किया था, 'तो क्या जितनी जातियां हैं, उतने साहित्य हों? साहित्य खंड-खंड हो जाएगा।' प्रथम दृष्टि में यह आशंका जायज लगती है, पर साहित्य अखंड कब रहा है? इसकी अखंडता का आभास तभी तक होता रहा, जब तक इस पर किसी खास जाति या वर्ग का आधिपत्य रहा अन्यथा यह हर काल में बंटता रहा है। आज भी अघोषित रूप से इसके जातिगत खेमे बने हुए हैं, चाहे वह मुख्यधारा का अभिजन साहित्य हो, चाहे अस्मिता विमर्शवाला बहुजन साहित्य। महत्त्व भले ही प्रतिभा का हो, पर धीरे-धीरे उसमें जातियां घुस आती हैं। भारत में चाहे धर्म हो, संस्कृति हो, दर्शन हो, समाज हो, राजनीति हो, हर क्षेत्र में जातियां घुसी हुई हैं। ओबीसी साहित्य की सैद्धांतिकी में भी मनुवादी प्रवृत्तियों का विरोध और पिछड़े समाज के मान-सम्मान, अस्मिता, अस्तित्व और मानवीय गरिमा की स्थापना ही है। इनकी चिंता में हाशिए की तमाम धाराएं और नया सांस्कृतिक विमर्श है। इसकी विचारधारा में लोहिया, गांधी, आंबेडकर आदि सभी हैं। अपने ऐतिहासिक प्रतीकों और दबे हुए इतिहास की खोज भी इसकी चिंता में है। इसलिए ओबीसी विमर्श की धार तेज होगी। *(फारवर्ड प्रेस, मई, 2014)*

ओबीसी साहित्य से आपत्ति नहीं

जयप्रकाश कर्दम

गत वर्ष के दौरान हिंदी साहित्य में जो भी बहस चली है, उसमें सर्वाधिक उल्लेखनीय डॉ. राजेंद्र प्रसाद सिंह द्वारा ओबीसी साहित्य को लेकर शुरु की गई बहस है, जो फ़ारवर्ड प्रेस के जुलाई, 2011 अंक में प्रकाशित उनके लेख 'ओबीसी साहित्य की अवधारणा' (देखें इस पुस्तक में पेज - 21) के माध्यम से शुरु हुई। ओबीसी साहित्य की आवश्यकता का उनका तर्क यहीं से शुरु होता है कि 'यदि दलित साहित्य हो सकता है तो ओबीसी साहित्य क्यों नहीं?' ओबीसी साहित्य की स्थापना के पीछे उनकी यह शिकायत या दर्द है कि 'हिंदी के दलित साहित्य ने अपना दरवाजा सिर्फ़ अनुसूचित जाति के रचनाकारों के लिए खोल रखा है। उसमें ओबीसी रचनाकारों की गुंजाइश कम होती जा रही है।' डॉ. राजेंद्र प्रसाद सिंह जाने-माने भाषाविद् और आलोचक हैं। उनके इस लेख को हिंदी साहित्य तथा दलित साहित्य के संदर्भ में भी एक बड़े एवं महत्त्वपूर्ण विमर्श के रूप में देखा जा सकता है। उनका तर्क और दर्द विचारणीय है। लेख में न दलित साहित्य का विरोध है, न उससे कोई टकराव है। सीधा-सीधा विमर्श है। वह मानते हैं कि 'हिंदी का दलित साहित्य और ओबीसी साहित्य- दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। ब्राह्मणवाद का विरोध, समतामूलक समाज की स्थापना, सामंती ताकतों का खात्मा, सामाजिक एवं धार्मिक बाह्याडंबरों का खंडन, आर्थिक समानता की स्थापना जैसे साहित्यिक स्वर इन दोनों साहित्यिक धाराओं को एक-दूसरे से जोड़ते हैं। यही विमर्श का मुख्य बिंदु है। सिद्ध और संत साहित्य से लेकर आधुनिक काल तक के जिन ओबीसी रचनाकारों का नामोल्लेख राजेंद्र प्रसाद सिंह द्वारा किया गया है, दलित साहित्य उन सबको दलित में शुमार करता है।

ओबीसी साहित्य की यह बहस आगे किस दिशा में और कहां तक जाएगी, इस बारे में कोई भी टिप्पणी करना अभी जल्दबाजी होगी। किंतु इस संबंध में यह कहना शायद अनुपयुक्त नहीं होगा कि दलित साहित्य की इमारत केवल कबीर को लेकर नहीं खड़ी है, अपितु मुख्य रूप से यह आंबेडकरवाद पर खड़ी है, जिसमें बुद्ध से लेकर कबीर, रैदास, ज्योतिबा फुले तक शामिल हैं। बुद्ध बहुजनवाद के प्रवर्तक हैं

और बुद्धवाद को अपने वैचारिक दर्शन का आधार माननेवाला दलित साहित्य बहुजनवाद का समर्थक है। ब्राह्मणवादी और सामंतवादी ताकतों को छोड़कर बाकी सब बहुजन के अंतर्गत आते हैं, इस बात को राजेंद्र प्रसाद सिंह भी स्वीकारते हैं। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि दलित साहित्य का दरवाजा केवल अनुसूचित जातियों के लिए खुला है। दलित साहित्य का दरवाजा तो सारे बहुजन समाज के लिए खुला है। किंतु दुःख इस बात का है कि अनुसूचित जातियों के अलावा किसी अन्य जाति का लेखक खुद को दलित साहित्यकार कहना या कहलवाना नहीं चाहता। दलित साहित्य के प्रबल पक्षधर राजेंद्र यादव, जिनकी दलित साहित्यकारों के बीच सम्मानजनक छवि है, भी स्वयं को दलित साहित्यकार नहीं कहते या मानते। दलित साहित्य के संबंध में उनकी टिप्पणियां एक दलित समर्थक लेखक की टिप्पणियां होती हैं। ओबीसी जातियों के रचनाकारों की दिक्कत यह है कि वे न तो खुलकर दलित साहित्य के साथ जुड़ते हैं और न उतने पुरजोर तरीके से सवर्ण साहित्य का विरोध करते हैं। राजेंद्र प्रसाद सिंह की यह चिंता अपनी जगह सही हो सकती है कि 'ओबीसी साहित्य सवर्ण साहित्य और दलित साहित्य दोनों के बीच पिस रहा है।' किंतु सच्चाई यह है कि यह दिक्कत ओबीसी साहित्य की नहीं, ओबीसी जातियों के साहित्यकारों की है। वे सवर्ण और दलित दोनों नावों पर एक साथ सवार होकर चलना चाहते हैं, जो संभव नहीं है। इस बात पर गंभीरता से विचार किया जाए कि सवर्ण साहित्य का पिछलग्गू बनकर उनको और उनके समाज को क्या मिला है? यदि वे स्वयं को दलित मानकर दलित समाज और साहित्य के साथ सच्चे मन से जुड़ें तो कोई वजह नहीं कि उनको दलित साहित्य में समुचित स्थान और सम्मान नहीं मिले। यदि वे पूरी निष्ठा से दलित साहित्य से जुड़ेंगे तो दलित साहित्यकार के रूप में रहकर और जगह बनाने से उन्हें कोई नहीं रोक सकता।

यहां यह उल्लेख करना अन्यथा नहीं होगा कि बहुत सी पिछड़ी जातियां स्वयं को दलितों से न केवल श्रेष्ठ मानती हैं, अपितु अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए उनके प्रति हिंसा और उत्पीड़न का व्यवहार करती हैं। उदाहरण के लिए हाल के वर्षों में हरियाणा में जाट समुदाय के लोगों द्वारा दुलीना, गोहाना और मिर्चपुर में दलितों के साथ हिंसा और बर्बरता का तांडव किया गया। स्वयं को दलित साहित्य का लेखक माननेवाला कोई व्यक्ति यदि दलित दमन की इन घटनाओं के विरोध में कुछ नहीं लिखता या बोलता, दलितों के स्वर में अपना स्वर और न्याय के संघर्ष में उनके कंधे से अपना कंधा नहीं मिलाता तो उसे दलित लेखक कैसे माना जा सकता है? दलितों का दमन करने वाले और उनकी अस्मिता को रौंदनेवाले अपने परिजनों और जाति भाइयों को यदि कोई लेखक फ़टकार नहीं लगा सकता और ऐसे मामलों में चुप्पी साध लेता है या अज्ञातवास में चला जाता है तो उनके लिए दलित अपने घर का दरवाजा कैसे खोलें? इस प्रकार के तथ्यों पर गौर किए बिना दलित साहित्य पर कोई भी टिप्पणी अथवा विमर्श अधूरा होगा।

ओबीसी साहित्य की अपनी अवधारणा से राजेंद्र प्रसाद सिंह प्रस्थान के सही बिंदु पर खड़े हैं, आगे कदम बढ़ाते हुए उन्हें कई पहलुओं पर गौर करना पड़ेगा। सर्वप्रथम तो यह कि दलित साहित्य के नामकरण की एक यात्रा और इतिहास है। दलित साहित्य की यह यात्रा विभिन्न पड़ावों से गुजरती हुई यहां तक पहुंची है। समता साहित्य, समानांतर साहित्य, बौद्ध साहित्य, नव बौद्ध साहित्य आदि कई नामों पर व्यापक चर्चा और विचार-विमर्श के बाद दलित साहित्य का नाम स्वीकार किया गया था। नाम का यह विमर्श अभी भी जारी है। मराठी और हिंदी के दलित लेखकों का एक वर्ग दलित साहित्य का नामकरण आंबेडकरवादी साहित्य करने का पक्षधर है। किंतु व्यापक स्तर पर देश भर में इसकी पहचान दलित साहित्य के रूप में है और यही स्वीकृत भी है। ओबीसी साहित्यकारों का पहला कर्तव्य है विषमता और भेदभावपरक मूल्य और मान्यताओं के प्रतिपादक, पोषक, और पक्षधर साहित्य और साहित्यकारों को बेनकाब कर उनका प्रबल प्रतिकार करना। यह काम जितनी ताकत से होगा, उनके साहित्य को उतनी ही गहरी पहचान और स्वीकृति मिलेगी। यदि ओबीसी लेखक पृथक ओबीसी साहित्य की स्थापना करना चाहते हैं तो यह आपत्तिजनक नहीं है। महत्त्वपूर्ण है उनका ब्राह्मणवादी-सामंतवादी साहित्य और साहित्यकारों के प्रभाव और छाया से बाहर निकलना। इससे अच्छी कोई बात नहीं हो सकती कि असमानता, अन्याय, अस्पृश्यता और शोषण के विरुद्ध दलित और ओबीसी सबकी एक सामूहिक आवाज हो।

(दलित साहित्य वार्षिकी - 2012 के संपादकीय का अंश। लेखक की अनुमति से फारवर्ड प्रेस के सितंबर, 2012 अंक में उद्धृत)

घर का भेदी और मेरी लंका

सुधीश पचौरी

जब साहित्य होता है, तब आरक्षण नहीं होता। जब आरक्षण होता है तो साहित्य नहीं होता। साहित्य सिर्फ साहित्य होता है। उसमें किसी तरह का आरक्षण नहीं हो सकता। अगर कोई आरक्षण की मांग करता है तो साहित्य को बांटना चाहता है। बताइए, साहित्य क्या बांटा जा सकता है?

साहित्य जाति, लिंग, धर्म से ऊपर होता है। न उसमें स्थान भेद होता है, न काल भेद, न भाषा भेद, न मानव भेद। हम आजीवन प्रगतिशील रहे। जीवनभर अपने बंदों का प्रगतिशील शैली में रक्षण करते रहे। कहां-कहां अपने रक्षितों को सुरक्षित जगहें दीं। रोटी-पानी का जुगाड़ कराया। कइयों को साहित्य में जमाया। अकादमी किया। कमाऊ कमेटियों में रखा। हमारी कीर्ति बढ़ी। हर शहर में हमारा थैला उठानेवाले पहले हाजिर रहते। ऐसे परमादरणीय हम जब सहस्र रक्षण लीलाएं कर चुके और करने को कुछ न रहा, तो एक शाम उक्त सत्य वचन कह ही उठे।

साहित्य में आरक्षण निहायत गलत बात है। साहित्य, साहित्य है, यहां आरक्षण कहां। देशकाल विधानानुसार एक दिन हम ओबीसीवादी भी हो लिए। प्रगतिशील योनि में जब तक रहे, अपने प्रगतिशीलों का रक्षण करते रहे। रक्षण के आगे आ लगाया, तो मजा आ गया। बड़ा मैदान मिल गया। काम वही पुराना था, यानी रक्षण करना। अब आरक्षण करने लगे। हम रक्षण और आरक्षण को अभेद दृष्टि से ही देखते रहे। रक्षितों का साहित्य में आरक्षण करते गए। जब साहित्य में दलित आरक्षण मांगने लगे, तो हमने आरक्षण पर पुनर्विचार किया। अचानक विचार पलट गए। हम ठसके। कहने लगे-आरक्षण न करियो-साहित्य में भला कहीं आरक्षण हुआ करता है। साहित्य की कोई जाति नहीं होती। धर्म नहीं होता। न कोई शर्मा होता है, न वर्मा होता है, न सिंह होता है, न यादव, न अग्रवाल, न गुप्त। न कोई दलित होता है, न ओबीसी। उसमें न औरत होती है, न मर्द होता है, न नपुंसक लिंग होता है। हमने जाति तोड़ने की प्रेरणा बहुत पहले ले ली थी। फिर हम आए मार्क्सवादी गली में। तब से उसी मार्क्सवादी मुहल्ले में रहते हैं। हमने जाति की जगह वर्ग लिख दिया। वर्ग की सोचते रहते, लेकिन जाति की करते रहते। हर लेखक के नाम से पहले

जाति का पता करते। वही लेखक सही होता, जो जाति में होता है। चेला या चेले का चेला, जो काम का हो, कुलगोत्र बढ़ाए। नाम के पहले प्रसिद्ध मार्क्सवादी की नेमप्लेट हमेशा लगाकर रखी। मार्क्सवाद ने हमारी लाज रखी। जाति छिपा ली। जाति चेतना की जगह वर्गीय चेतना लिखा-दिखता रहा। अंदर की बात यही कि जाति में गतिशील कहलाए। प्रगतिशील होना जातिशील से टकराता न था। बातें वर्ग की करते रहो, जीवन में जाति चलाते रहो। बुरा हो कमबख्त रघुवीर सहाय का, जो एक घटिया कविता लिखकर हमारी लंका ढहा गया। यह भी कोई कविता है, जो कहती है - कुछ भी लिखूंगा वैसा नहीं दिखूंगा/दिखूंगा/ या तो रिरियाता हुआ या गरजता हुआ/ किसी को पुचकारता हुआ/ किसी को बरजता हुआ/ बनिया बनिया रहे/ बाम्हन बाम्हन और कायस्थ कायस्थ रहे/ पर जब कविता लिखे तो आधुनिक हो जाए/ खीसें बा दे जब कहो गा दे/ सच कहा है, घर का भेदी लंका ढाए।

(दैनिक हिंदुस्तान से फारवर्ड प्रेस के अप्रैल, 2013 अंक में उद्धृत)

आदिवासी साहित्य विमर्श

आदिवासी साहित्य विमर्श : चुनौतियां और संभावनाएं

डा. गंगा सहाय मीणा

20वीं सदी के आखिरी दशकों में भारत में नए सामाजिक आंदोलनों का उभार हुआ। स्त्रियों, किसानों, दलितों, आदिवासियों और जातीयताओं की 'नई' एकजुटता ने ऐसी मांगें और मुद्दे उठाए, जो स्थापित सैद्धांतिक व राजनीतिक मुहावरों के माध्यम से आसानी से समझे और सुलझाए नहीं जा सकते थे। इन अस्मिताओं ने अपने साथ होनेवाले शोषण के लिए अपनी खास अस्मिता को कारण बताया और उस शोषण तथा भेदभाव से संघर्ष के लिए उस संबंधित अस्मिता/पहचान को धारण करनेवाले समूह/समुदाय को अपने साथ लेकर अपनी मुक्ति के लिए सामूहिक अभियान चलाया। चूंकि इस प्रक्रिया में शोषण और संघर्ष का आधार अस्मिताएं हैं, इसलिए इसे अस्मितावाद की संज्ञा दी गई। वंचितों के शोषण के खिलाफ उठ खड़ी हुई मुहिम में सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन के अलावा साहित्यिक आंदोलन ने भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया है। स्त्रीवादी साहित्य और दलित साहित्य उसी का प्रतिफल है। अब आदिवासी चेतना से लैस आदिवासी साहित्य भी साहित्य और आलोचना की दुनिया में अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुका है।

आदिवासी लोक में साहित्य सहित विविध कला-माध्यमों का विकास तथाकथित मुख्यधारा से पहले हो चुका था, लेकिन वहां साहित्य सृजन की परंपरा मूलतः मौखिक रही। जंगलों में खदेड़ दिए जाने के बाद भी आदिवासी समाज ने इस परंपरा को अनवरत जारी रखा। ठेठ जनभाषा में होने और सत्ता प्रतिष्ठानों से दूरी की वजह से यह साहित्य आदिवासी समाज की ही तरह उपेक्षा का शिकार हुआ। आज भी सैकड़ों देशज भाषाओं में आदिवासी साहित्य रचा जा रहा है, जिसमें से अधिकांश से हमारा संवाद शेष है।

समकालीन आदिवासी साहित्य आंदोलन के ऐतिहासिक-भौतिक कारण हैं। दो दशक पूर्व भारत की केंद्रीय सरकार द्वारा शुरू की गई आर्थिक उदारीकरण की नीति ने बाजारवाद का रास्ता खोला। मुक्त व्यापार और मुक्त बाजार के नाम पर मुनाफे और लूट का खेल आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन से भी आगे जाकर उनके जीवन को दांव पर लगाकर खेला जा रहा है। आंकड़े गवाह हैं कि पिछले एक दशक में अकेले झारखंड राज्य से 10 लाख से अधिक आदिवासी विस्थापित हो चुके हैं। इनमें से अधिकांश लोग दिल्ली जैसे महानगरों में घरेलू नौकर या दिहाड़ी पर काम करते हैं। विडंबना यह है कि

सरकार के अनुसार राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली में मूलतः कोई आदिवासी नहीं है, इसलिए यहां की शिक्षण संस्थाओं और नौकरियों में आदिवासियों के लिए आरक्षण या कोई विशेष प्रावधान नहीं है। विकास के नाम पर अपने पैतृक क्षेत्रों से बेदखल किए गए ये लोग जाएं तो कहां जाएं? यह दुखद है कि जब संयुक्त राष्ट्र संघ ने वर्ष 1993 को 'देशज लोगों का अंतर्राष्ट्रीय वर्ष' के रूप में मनाने का फैसला किया तो भारत सरकार की प्रतिक्रिया थी, 'संयुक्त राष्ट्र द्वारा परिभाषित इंडिजिनस लोग भारतीय आदिवासी या अनुसूचित जनजातियां नहीं हैं, बल्कि भारत के सभी लोग देशज लोग हैं और न यहां के आदिवासी या अनुसूचित जनजाति किसी प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक पक्षपात के शिकार हो रहे हैं।' दरअसल पूरा मसला आदिवासियों को आत्मनिर्णय का अधिकार देने का था, जिसकी मांग आदिवासी साहित्य में भी देखी जा सकती है। अपने जल-जंगल-जमीन से बेदखल महानगरों में शोषित-उपेक्षित आदिवासी किस आधार पर इसे अपना देश कहें? बाजार और सत्ता के गठजोड़ ने आदिवासियों के सामने अस्तित्व की चुनौती खड़ी कर दी है। जो लोग आदिवासी इलाकों में बच गए, वे सरकार और उग्र वामपंथ की दोहरी हिंसा में फंसे हैं। अन्यत्र बसे आदिवासियों की स्थिति बिना जड़ के पेड़ जैसी हो गई है। नदियों, पहाड़ों, जंगलों, आदिवासी पड़ोस के बिना उनकी भाषा और संस्कृति तथा उससे निर्मित होनेवाली पहचान ही कहीं खोती जा रही है। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व का इतना गहरा संकट इससे पहले नहीं पैदा हुआ। जब सवाल अस्तित्व का हो तो उसका प्रतिरोध भी स्वाभाविक है। सामाजिक व राजनीतिक प्रतिरोध के अलावा कला और साहित्य द्वारा भी इसका प्रतिरोध किया गया और उसी से समकालीन आदिवासी साहित्य अस्तित्व में आया।

जब-जब दिकुओं ने आदिवासी जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप किया, आदिवासियों ने उसका प्रतिरोध किया है। पिछली दो सदियां आदिवासी विद्रोहों की गवाह रही हैं। इन विद्रोहों से रचनात्मक ऊर्जा भी निकली, लेकिन वह मौखिक ही अधिक रही। संचार माध्यमों के अभाव में वह राष्ट्रीय रूप नहीं धारण कर सकी। समय-समय पर गैर-आदिवासी रचनाकारों ने भी आदिवासी जीवन और समाज को अभिव्यक्त किया। साहित्य में आदिवासी जीवन की प्रस्तुति की इस पूरी परंपरा को हम समकालीन आदिवासी साहित्य की पृष्ठभूमि के तौर पर रख सकते हैं। जाहिर है कोई भी साहित्यिक आंदोलन किसी तिथि विशेष से अचानक शुरू नहीं हो जाता। उसके उद्‌भव और विकास में तमाम परिस्थितियां अपनी भूमिका निभाती हैं। समकालीन आदिवासी लेखन और विमर्श की शुरुआत हमें 1991 के बाद से माननी चाहिए। भारत सरकार की नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण-उत्पीड़न की प्रक्रिया तेज की, इसलिए उसका प्रतिरोध भी मुखर हुआ। शोषण और उसके प्रतिरोध का स्वरूप राष्ट्रीय था, इसलिए प्रतिरोध से निकली रचनात्मक ऊर्जा का स्वरूप भी राष्ट्रीय था। निष्कर्षतः 1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीतियों से तेज हुई आदिवासी शोषण की प्रक्रिया के प्रतिरोधस्वरूप आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा

हुई रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी साहित्य है। इस साहित्य का भूगोल, समाज, भाषा, संदर्भ शेष साहित्य से उसी तरह पृथक है, जैसे स्वयं आदिवासी समाज और यही पार्थक्य इसकी मुख्य विशेषता है। यह आदिवासी साहित्य की अवधारणा के निर्माण का दौर है। आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिकुओं द्वारा किए गए और किए जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता व अस्तित्व के संकटों और उसके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है, जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।

चूंकि आदिवासी साहित्य विमर्श अभी निर्माण-प्रक्रिया में है, इसलिए अभी इसके मुद्दे भी आकार ले रहे हैं। 'आदिवासी कौन है' से शुरू होकर आदिवासी समाज, इतिहास, संस्कृति, भाषा आदि पर पिछले एक दशक में कुछ बातें हुई हैं। हर साहित्यिक आंदोलन की शुरुआत और उसे आगे बढ़ाने में एक या अधिक पत्रिकाओं की भूमिका होती है। साहित्य जगत में आदिवासी मुद्दों को उठाने, उनसे जुड़े सृजनात्मक साहित्य को प्रोत्साहन देने में इन पत्रिकाओं ने अहम् योगदान दिया है - 'युद्धरत आम आदमी' (दिल्ली, हजारीबाग, संपादक- रमणिका गुप्ता), 'अरावली उद्घोष' (उदयपुर, संपादक- बीपी वर्मा 'पथिक'), 'झारखंडी भाषा साहित्य, संस्कृति अखड़ा' (रांची, संपादक- वंदना टेटे), 'आदिवासी सत्ता' (दुर्ग, छत्तीसगढ़, संपादक-केआर शाह) आदि। इनके अलावा 'तरंग भारती' के माध्यम से पुष्पा टेटे, 'देशज स्वर' के माध्यम से सुनील मिंज और सांध्य दैनिक 'झारखंड न्यूज लाइन' के माध्यम से शिशिर टुडु आदिवासी विमर्श को बढ़ाने में लगे हैं। बड़ी संख्या में मुख्यधारा की पत्रिकाओं ने आदिवासी विशेषांक निकालकर आदिवासी विमर्श को आगे बढ़ाने में मदद की है, जैसे - 'समकालीन जनमत' (2003), 'दस्तक' (2004), 'कथाक्रम'(2012), 'इस्पातिका' (2012) आदि। शुरू में हिंदी की प्रमुख पत्रिकाओं ने आदिवासी मुद्दों को छापने में उतनी रुचि नहीं दिखाई, लेकिन अब विमर्श की बढ़ती स्वीकारोक्ति के साथ ही इन पत्रिकाओं में आदिवासी जीवन को जगह मिलने लगी है। छोटी पत्रिकाओं में आदिवासी लेखकों को पर्याप्त जगह मिल रही है।

आदिवासी लेखन विविधताओं से भरा हुआ है। मौखिक साहित्य की समृद्ध परंपरा का लाभ आदिवासी रचनाकारों को मिला है। आदिवासी साहित्य की उस तरह कोई केंद्रीय विधा नहीं है, जिस तरह स्त्री साहित्य और दलित साहित्य का आत्मकथात्मक लेखन है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक-सभी प्रमुख विधाओं में आदिवासी और गैर-आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी जीवन समाज की प्रस्तुति की है। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष में कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है। आदिवासी लेखन में आत्मकथात्मक लेखन केंद्रीय स्थान नहीं बना सका, क्योंकि स्वयं आदिवासी समाज 'आत्म' से अधिक समूह में विश्वास करता है। अधिकांश

आदिवासी समुदायों में काफी बाद तक भी निजी और निजता की धारणाएं घर नहीं कर पाईं। परंपरा, संस्कृति, इतिहास से लेकर शोषण और उसका प्रतिरोध-सब कुछ सामूहिक है। समूह की बात आत्मकथा में नहीं, जनकविता में ज्यादा अच्छे से व्यक्त हो सकती है। आदिवासी कलम की धार तेजी से अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार कर रही है। आजादी से पहले आदिवासियों की मूल समस्याएं वनोपज पर प्रतिबंध, तरह-तरह के लगान, महाजनी शोषण, पुलिस-प्रशासन की ज्यादतियां आदि हैं, जबकि आजादी के बाद भारतीय सरकार द्वारा अपनाए गए विकास के गलत मॉडल ने आदिवासियों से उनके जल, जंगल और जमीन छीनकर उन्हें बेदखल कर दिया। विस्थापन उनके जीवन की मुख्य समस्या बन गई। इस प्रक्रिया में एक ओर उनकी सांस्कृतिक पहचान उनसे छूट रही है, दूसरी ओर उनके अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो गया है। अगर वे पहचान बचाते हैं तो अस्तित्व पर संकट खड़ा होता है और अगर अस्तित्व बचाते हैं तो सांस्कृतिक पहचान नष्ट होती है, इसलिए आज का आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है। यह ऐसा विमर्श है, जिससे इस समुदाय की परंपरा और संस्कृति के साथ उनके साथ हो रहे अन्याय, अत्याचार, अपमान, शोषण आदि का भी बयान हो रहा है। विभिन्न धरातलों पर आदिवासी लेखन एक व्यापक विमर्श का हिस्सा बन रहा है।

स्त्री और दलित साहित्य से भिन्न आदिवासी साहित्य की एक प्रमुख प्रवृति इसमें अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं के प्रति सहयोगी भाव है। स्त्रीवादी साहित्य ने जाति के प्रश्न को नहीं समझा और दलित साहित्य ने स्त्री के सवालों को तरजीह नहीं दी, जिसके फलस्वरूप 'दलित स्त्री विमर्श' आस्तित्व में आया। चूंकि आदिवासी समाज में श्रम में भागीदारी के कारण स्त्री अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति में रही है, इसलिए साहित्य में बड़ी संख्या में स्त्री रचनाकारों अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। उनके तथा अन्य रचनाकारों के माध्यम से आदिवासी साहित्य में स्त्री के सवालों को पर्याप्त जगह मिल रही है। स्त्री के सवालों को केंद्रीय महत्व दिए बिना आदिवासी साहित्य की परिकल्पना भी संभव नहीं। आदिवासी साहित्य अपने दायरे में अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं के प्रति संवेदनशील है।

चूंकि आदिवासी साहित्य अपनी रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी विद्रोहों की परंपरा से लेता है, इसलिए उन आंदोलनों की भाषा और भूगोल भी महत्त्वपूर्ण रहा है। आदिवासी रचनाकारों का मूल साहित्य उनकी इन्हीं भाषाओं में है। हिंदी में मौजूद साहित्य देशज भाषाओं में उपस्थित साहित्य की इसी समृद्ध परंपरा से प्रभावित है। कुछ साहित्य का अनुवाद और रूपांतरण भी हुआ है। भारत की तमाम आदिवासी भाषाओं में लिखा जा रहा साहित्य हिंदी, बांग्ला, तमिल जैसी बड़ी भाषाओं में अनूदित और रूपांतरित होकर एक राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर रहा है। प्रकारांतर से पूरा आदिवासी साहित्य बिरसा, सीदो-कानू और तमाम क्रांतिकारी आदिवासियों और उनके आंदोंलनों से विद्रोही चेतना का तेवर लेकर आगे बढ़ रहा है।

(फारवर्ड प्रेस, अप्रैल, 2013)

उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के बगैर क्या बहुजन साहित्य संभव है?

अश्विनी कुमार पंकज

फॉरवर्ड प्रेस द्वारा आरंभ किए गए विमर्श 'ओबीसी साहित्य की अवधारणा' (राजेंद्र प्रसाद सिंह, जुलाई, 2011) (देखें इस पुस्तक में पेज - 21) ने कई सवाल खड़े किए हैं। इस संबंध में नवंबर, 2011 अंक (देखें इस पुस्तक में पेज - 98) में कंवल भारती का आलेख भी उद्वेलित करनेवाला है। इन लेखों में तथा इस विषय पर अन्य विद्वान चिंतकों ने ओबीसी तथा बहुजन साहित्य और उसकी वैचारिकी को तथ्यों के साथ तर्कपूर्ण ढंग से स्थापित किया है, परंतु भारत की बहुसंख्यक उत्पीड़ित जनता और उत्पीड़ित राष्ट्रीयता के संदर्भ में ये सभी लेखक एक ऐसे छोर पर खड़े हैं, जहां वे और सिर्फ़ वे ही हैं। उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं अर्थात् आदिवासियों के संदर्भ में लगभग सभी समान धुरी और दूरी पर हैं। करीब 15 करोड़ आदिवासी आबादी के बिना ही ये लेखक 'बहुजन' साहित्य की अवधारणा बना रहे हैं! वस्तुतः भारतीय समाज के सबसे उत्पीड़ित समुदाय, आदिवासी को विलगकर अनुसूचित जातियों द्वारा पेश की गई दलित और ओबीसी जातियों द्वारा पेश की जा रही 'बहुजन' की अवधारणा के मूल वैचारिक प्रस्थान बिंदु को परखने की ज़रूरत है।

सबसे पहले दलित चिंतक कंवल भारती के आलेख के कुछ अंशों को देखते हैं।

- ''दलित आंदोलन पिछड़ों में भी अपनी अस्मिता की चेतना विकसित करने में सफल हुआ।''
- ''मंडल कमीशन लागू करने की लड़ाई मुख्यतः दलितों ने ही लड़ी।''
- ''दलित साहित्य की एक पहचान है। उसके मूल में जोतिबा फुले, आंबेडकर, बुद्ध और कबीर-रैदास का दर्शन है, वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता का खंडन उसकी मुख्य वैचारिकी है।''
- ''दलित साहित्य ने दलित वर्गों के नायकों को अपनाया है, जिनमें पिछड़ी जातियों के नायक भी शामिल हैं।''

◆ ''पिछड़ी जातियां शूद्र हैं, वो वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत आती हैं। इस दृष्टि से वे सवर्ण जातियां भी हैं। संभवतः यही कारण है कि वे स्वयं को दलितों से उच्च मानती हैं और उनके प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार भी करती हैं।''

कंवल भारती की पहली पंक्ति से यह ध्वनित होता है कि देश में अस्मिता की लड़ाई दलित ही लड़ रहे हैं और आज यदि ओबीसी अपने साहित्य की बात कर रहे हैं तो यह उनकी ही देन है। उपलब्ध दस्तावेज़ बताते हैं कि 1765–66 में अस्मिता, अधिकार और स्वतंत्रता की लड़ाई लड़नेवाला सबसे पहला समुदाय आदिवासी था। तब से आज तक वे लगातार लड़ रहे हैं। शहादतों से भरे आदिवासी आंदोलनों के इतिहास को नकार कर आप कैसा 'बहुजन इतिहास' रचना चाह रहे हैं। हां, भारतीजी का दूसरा वाक्य ज़रूर सही है कि मंडल कमीशन की लड़ाई दलितों ने ही लड़ी। हालांकि यह पूरा सच नहीं है। इस लड़ाई में ओबीसी भी पूर्णरूपेण साथ थे। इस प्रसंग में सिर्फ़ इतना ही कहूंगा कि आदिवासी 'आरक्षण' के लिए नहीं लड़े। 1912 में रांची में कुछ पढ़े-लिखे आदिवासियों ने समाज सुधार, अधिकार और शिक्षा व नौकरियों में आरक्षण के लिए पहला संगठन बनाया था– छोटा नागपुर उन्नति समाज, लेकिन अगले एक दशक के भीतर ही और 1940 तक आते-आते इसका प्रमुख एजेंडा 'आरक्षण' नहीं रह गया। संगठन ने व्यापक विश्व दृष्टिकोण रखते हुए राजनीतिक स्वरूप ले लिया और लड़ाई उत्पीड़ित राष्ट्रीयता यानी अस्मिता, अधिकार और पूर्ण स्वतंत्रता पर केंद्रित हो गई। संगठन का नाम 'आदिवासी महासभा' फिर 'झारखंड पार्टी' हो गया। उत्पीड़ित राष्ट्रीयता के इस शहीदाना संघर्ष को भारत के राजनीतिक इतिहास में 'झारखंड आंदोलन' के नाम से जाना गया। यह सिर्फ़ आदिवासियों का नहीं, बल्कि उनके साथ-साथ तत्कालीन बिहार, बंगाल, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के तमाम उत्पीड़ित गैर-आदिवासी जमातों का झारखंड आंदोलन था, आज भी है।

आगे कंवल भारती दलित साहित्य के संबंध में कहते हैं, ''वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता का खंडन उसकी मुख्य वैचारिकी है।'' इससे असहमति नहीं है, पर क्या यह वैचारिकी दलितों के सामाजिक व्यवहार में है? क्या सिर्फ वैचारिक खंडन से ही जातिगत व्यवस्था ध्वस्त हो जाएगी? अगर ऐसा है तो मैं जानना चाहूंगा कि बिहार, झारखंड, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में किस हद तक दलितों में जातिविहीनता हुई है? क्या उनमें जातियों के विलोपन की प्रक्रिया जारी है या जातिगत संरचना और हिंदू आचरण प्रभावी रूप में मौजूद है? बिहार–झारखंड के सामाजिक–धार्मिक व्यवहार में तो दलित ब्राह्मणवाद से अलगाव बिलकुल नहीं दिखता है। दलितों ने अपने और पिछड़ा समुदाय के नायकों को अपनाया, पर आदिवासी नायकों को नहीं, जबकि आदिवासियों ने दलित-पिछड़ा ही नहीं वरन् भारत के सभी समाजों के राष्ट्रीय नायकों को अपनाया।

''पिछड़ी जातियां शूद्र हैं, वे वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत आती हैं। इस दृष्टि से वे

'सवर्ण' जातियां भी हैं। संभवतः यही कारण है कि वे स्वयं को दलितों से उच्च मानती हैं और उनके प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार भी करती हैं।'' ठीक यही व्यवहार दलित और पिछड़े दोनों ही आदिवासियों के साथ करते आए हैं, कर रहे हैं। देश का कोई भी आदिवासी इलाका घूम आइए। आदिवासी इलाकों में ये दोनों ही दमित तबके आदिवासियों के नहीं, बल्कि शासक वर्ग के साथ हैं।

इसी तरह राजेन्द्र प्रसाद सिंह भी ओबीसी साहित्य की अवधारणा में बड़ी सफ़ाई से दलितों के साथ इन्हीं आधारों पर पिछड़ों के साथ एकता कायम करते हैं। ओबीसी की बहुजन अवधारणा में भी आदिवासियों के लिए कोई खाली जगह नहीं है। हो भी कैसे? आदिवासी तो व्यावहारिक अर्थों में गैर-ब्राह्मणवादी, जातिविहीन समुदाय है। उससे एका करने के लिए समाज, राजनीति और संस्कृति के सभी आयामों में 'ब्राह्मणवाद और जाति' को त्यागना होगा। वहां 'बौद्ध' धर्म अपनाकर जाति में रहने की सुविधा नहीं है। इसलिए स्वाभाविक रूप से दलित और पिछड़ों में ही एकता संभव है और जैसा कि दोनों ही विचारक विद्वान कह रहे हैं, दलित–पिछड़ों की वैचारिकी का आधार एक है। यह कैसा वैचारिक आधार है, जो बहुजन एकता और सामूहिकता के बिंदु की तलाश एक दूसरे में कर रहा है, लेकिन इस जीवनदर्शन और व्यवहार के सभी आयामों में जी रहे आदिवासी समाज की ओर नजर भी उठाकर नहीं देखना चाहता है।

विचारणीय बिंदु यह भी है कि ओबीसी साहित्य की अवधारणा औपनिवेशिक शासकों द्वारा परिभाषित जाति श्रेणी के आधार पर प्रस्तावित की जा रही है। मनु के वर्णाश्रम में चार श्रेणियां हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। आदिवासी असुर थे। ब्राह्मणवादी व्यवस्था और सत्ता के प्रबल विरोधी। वे अपनी सामूहिकता, सहअस्तित्व, सहजीविता, सहभागिता और संघीय व गणतांत्रिक व्यवस्था के कारण आर्यों, देवों के साथ विशेष दूरी बनाए हुए थे। सर्वथा विपरीत जीवनदर्शन जीनेवाले आदिवासियों को किसी भी तरह वर्णाश्रम में समेट पाना मुश्किल था। इसलिए वे किसी श्रेणी में शामिल ही नहीं किए गए। अंग्रेज़ों ने जबकि वैश्य और शूद्र के अंतर्गत रही जातियों में घालमेल करते हुए दो श्रेणियां बनाईं। इन दोनों श्रेणियों को आज तक भारतीय शासक वर्ग अपनी सुविधा और तात्कालिक राजनीतिक नफ़ा-नुकसान के हिसाब से फेंटाफेंटी करता रहता है। आरक्षण पाने के लिए स्वयं भी इनमें से कई जातियां इधर से उधर जाने को बेताब रहती आई हैं। कुछ तो इनसे भी बाहर निकल कर एसटी की श्रेणी प्राप्त करने को लालायित हैं, ताकि ग्लोबलाइज़ेशन के दौर में भीड़ के कारण छीजते जा रहे अवसरों की असुरक्षा से वे बच सकें, क्योंकि न तो इतिहास में और न ही वर्तमान में एसटी होने की दावेदारी की चाहतों को कभी आदिवासी आंदोलनों के साथ जुड़कर मुक्तिकामी स्वप्न बुनते देखा गया।

वहीं ओबीसी साहित्य की अवधारणा में हिंदी साहित्य की ब्राह्मणवादी चतुराई का सहारा लेते हुए ओबीसी श्रेणी में शामिल और मनु के अनुसार शूद्र रही कारीगर

जातियों को समेट लिया गया है। दर्जी, कुम्हार, लोहार, नाई, माली, कहार, बुनकर आदि कारीगर जातियों के बल पर ओबीसी साहित्य के इतिहास की नींव रखी जा रही है। सच्चाई यह है कि वैश्य श्रेणी के अंतर्गत आनेवाली तेली, बनिया, कायस्थ, कुर्मी, ग्वाल आदि जातियां शुरू से ही ब्राह्मणवादी सत्ता के साथ रही हैं। हिंदी साहित्य में भी महाजनों, लठैतों और धूर्त लिपिकों की बिरादरी की मुकम्मल तस्वीर इन्हीं जातियों से बनती है। फिर इनकी अस्मिता शूद्रों अर्थात् कारीगर एवं उत्पादक जातियों के साथ कैसे एक हो सकती है? दोनों की सामाजिक हैसियत बिलकुल भिन्न है। उत्तर भारत के अनेक हिस्सों में इन जातियों की ज़मींदारियां आज भी मौजूद हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में लालू प्रसाद और नीतीश कुमार इसी सामाजिक–आर्थिक हैसियत के कारण सत्ता में आते हैं। रामविलास पासवान और बहन मायावती को भी किसी ब्राह्मणवादी गठजोड़ से परहेज़ नहीं है।

आदिवासी होने का अर्थ है जातिविहीन होना। लंबे संघर्ष के बाद भी दलित समुदाय जातिविहीन नहीं हो पाया और राजनीतिक रूप से उसका संघर्ष सिर्फ़ 'सत्ता प्राप्ति' तक सिमट कर रह गया है। ओबीसी तो उनसे भी चार कदम पीछे हैं। दलितों और पिछड़ों का आदिवासियों से अलगाव महज़ भौगोलिक नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक और राजनीतिक ज़्यादा है। इस पर विमर्श किए बगैर बहुजन साहित्य या बहुजन राजनीति की परिकल्पना अधूरी रहेगी।

सामंती–पूंजीवादी गठजोड़ और साम्राज्यवाद के खिलाफ़ चल रहे संघर्ष में, औपनिवेशिक और स्वतंत्र दोनों ही भारत में सबसे ज़्यादा राज्यसत्ता के निशाने पर कौन है, सबसे ज़्यादा उजाड़े और मारे कौन गए? आज भी किनकी लाशें जानवरों की तरह टांग कर राज्यसत्ता फ़ोटो खिंचवाती है, सोचिए कौन चाहता है गणतांत्रिक व्यवस्था और कौन चाहता है इसी व्यवस्था में अपने लिए संख्या बल पर सत्ता और सिर्फ़ सुविधाएं? सदी की किसी भी पिछली तारीख तक चले जाइए और 21वीं सदी की किसी भी तारीख पर आकर ठहर जाइए, इतिहास और वर्तमान, दोनों ही समय के युद्ध में दो ही समुदाय भिड़ रहे हैं, सुर और असुर। इस ऐतिहासिक संघर्ष में दलित और पिछड़े कहां हैं? यह सवाल तब और गहरा हो जाता है, जब आज कई जातियां महज़ 'आरक्षण' के लिए आदिवासी होने की लड़ाई तो लड़ती हैं, पर आदिवासी संघर्ष का हिस्सा नहीं बनतीं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आदिवासी न किसी को अपने से श्रेष्ठ समझते हैं और न कमतर। मेरा मकसद उन्हीं के जीवनदर्शन के अनुरूप उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करना कतई नहीं है, न ही आदिवासियों के संघर्ष का महिमामंडन करना है। मेरा आग्रह सिर्फ़ इतना है कि हम अपनी नई-पुरानी अवधारणाओं से 'बहुजन' संघर्ष को व्यापक, मजबूत व और धारदार बना रहे हैं। कहीं हम चेतन-अवचेतन ढंग से उत्पीड़ित अस्मिताओं के विराट मुक्ति संघर्ष को महज़ 'जातीय दावेदारी' से संकुचित तो नहीं कर दे रहे हैं?

(फारवर्ड प्रेस, फरवरी, 2012)

बहुजन साहित्य की अवधारणा और आदिवासी

कंवल भारती

यह एक अच्छी बात है कि बहुजन साहित्य की अवधारणा पर बहस जारी है और वह अश्विनी कुमार पंकज के लेख 'उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के बगैर क्या बहुजन साहित्य संभव है?' (फॉरवर्ड प्रेस, फ़रवरी, 2012) से आदिवासी समाज तक चली गई है। बहुजन लेखकों को अश्विनी कुमार पंकज का आभारी होना चाहिए कि उन्होंने आदिवासियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया है, (देखें इस पुस्तक में पेज - 83) जिनको शामिल किए बगैर बहुजन साहित्य की धारा का निर्माण नहीं किया जा सकता। मैं उनका स्वागत करता हूं और इस बात को अनुभव करता हूं कि आदिवासियों की सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता का प्रश्न भी बहुजन साहित्य का ही प्रश्न है। डॉ. आंबेडकर पहले दलित चिंतक हैं, जिन्होंने इस प्रश्न को सबसे पहले स्वीकार किया था। उन्होंने अछूतों के साथ-साथ आदिवासियों के पिछड़ेपन को भी हिंदू सभ्यता की देन माना था।

लेकिन यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या आदिवासी साहित्य ब्राह्मणवाद के खिलाफ़ उतना ही मुखर है, जितना कि दलित साहित्य है? जब हम आदिवासी साहित्य का अध्ययन करते हैं तो हमें उसमें मूल संघर्ष ज़मीन और जंगल का दिखाई देता है। उनके संघर्ष का इतिहास अंग्रेजों के खिलाफ़ लड़ाई से शुरू होता है, जो ज़मीन और जंगल को बचाने के लिए ज़रूरी लड़ाई भी थी, लेकिन दलित साहित्य की लड़ाई के केंद्र में दलित-मुक्ति का प्रश्न है। निस्संदेह संघर्ष यूनियन जैक के साथ भी था, पर ब्राह्मणवाद और हिंदू धर्म के विरुद्ध उसका संघर्ष सबसे तीखा था, लेकिन आदिवासी समाज ने ब्राह्मणवाद और हिंदू धर्म के विरुद्ध इसलिए लड़ाई नहीं लड़ी, क्योंकि वह हिंदू फ़ोल्ड में नहीं था। उसका अपना धर्म है, जिसमें अस्पृश्यता नहीं है, किंतु आदिवासी बुद्धिजीवियों की समझ में यह बात नहीं आई कि उनके सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन के लिए ब्रिटिश सरकार से ज़्यादा सामंतवाद और ब्राह्मणवाद ज़िम्मेदार था। वर्णव्यवस्था के खिलाफ़ दलित की लड़ाई को अश्विनी कुमार पंकज व्यावहारिक स्तर पर एक विफल लड़ाई के रूप में देखते हैं। यह उनके देखने का अपना नज़रिया है, जो सही भी हो सकता है, पर वह नज़रिया व्यापक नहीं है।

दरअसल, अश्विनी कुमार जिस अर्थ में वर्ण व्यवस्था के समाप्त होने को ले रहे हैं, वह स्वप्न तो है, पर रातो-रात पूरा होने वाला स्वप्न नहीं है। दलित आंदोलन के विज़न में अस्पृश्यता का प्रतिरोध और अछूत की मानवीय गरिमा को स्थापित करने का संघर्ष था। क्या दलितों के संघर्ष ने वर्णव्यवस्था-विरोध के इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया है? क्या शासन और प्रशासन में दलित वर्गों की भागीदारी, दलित का राष्ट्रपति, मुख्यमंत्री, मुख्य न्यायाधीश और कुलपति के पदों तक पहुंचना इसका प्रमाण नहीं है? क्या यह परिवर्तन सौ-डेढ़ सौ साल पहले संभव था? तब, यह कैसे कहा जा सकता है कि वर्णव्यवस्था और अस्पृश्यता का खंडन निष्फल चला गया? इसमें संदेह नहीं कि दलित समुदाय में (बल्कि हर वर्ग और हर समुदाय में) एक मलाईदार तबका पैदा हो गया है, जाति से लाभ उठा रहा है। डॉ. आंबेडकर ने इसी ओर इशारा करते हुए कहा था कि ब्राह्मणवाद हर वर्ग में मौजूद है। अश्विनी कुमार पंकज इसी तबके को ध्यान में रख कर बात कह रहे हैं, जबकि सत्य यह है कि जाति से पीड़ित व्यक्ति जाति व्यवस्था को ध्वस्त करना चाहता है। कुछ लोग पूंजीवादी मॉडल का हवाला देते हैं कि उसमें जाति नहीं है। बात ठीक है, पर यह बात सिर्फ़ पैसे वाले लोगों पर ही लागू होती है। एक धनी चमार टिकट लेकर धनी ब्राह्मण की बगल में हवाई जहाज़ में बैठ सकता है, पर समाज में अभी भी उनके बीच सामाजिक अलगाव मौजूद है, लेकिन सच यह भी है कि सामंतवादी अवशेषों को खत्म करने की शक्ति पूंजीवाद में ही है। इसलिए, यदि जातिविहीन समाज नहीं बन पा रहा है, तो इसका कारण दलित वैचारिकी की विफलता नहीं है, वरन सामंतवाद से पूंजीवाद का लोकतांत्रिक गठजोड़ है।

अश्विनी कुमार पंकज की इस बात पर भी अवश्य विचार किया जा सकता है कि दलित और पिछड़े दोनों ही आदिवासियों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार करते हैं। इसका कारण अज्ञानता है अथवा जातिवादी सोच है? पिछड़ी जातियों का दलितों के प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार भी इसी आधार पर है। इस बुराई को विचार से ही दूर किया जा सकता है। जो जातिवादी विचार हज़ारों सालों से लोगों के मस्तिष्क में घुसा हुआ है, उसे बाहर निकालने का काम भी विचार ही करेगा और ज़ाहिर है कि इसके लिए बुद्धिजीवियों को ही भूमिका निभानी होगी, लेकिन एक बहुत ही तल्ख अनुभव है कि आदिवासी लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता दलित लेखकों से संवाद नहीं करते। दस साल पहले इसी रांची शहर में, जहां के अश्विनी कुमार पंकज हैं, आदिवासी लेखकों और नेताओं के साथ हमारा, कुछ दलित लेखकों का संवाद हुआ था, जिसमें मेरे साथ मोहनदास नैमिशराय और श्यौराज सिंह बेचैन भी थे। इसमें वहां की लेखिका वासवी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। हम सबने अनेक मुद्दों पर बातचीत की थी और डॉ. रामदयाल मुंडा के आवास पर जाकर एक कार्य योजना भी बनी थी, पर बाद में कुछ नहीं हुआ। इन दस सालों में किसी भी आदिवासी लेखक ने हमसे कोई संवाद नहीं किया। वासवी ने भी, जो इस योजना की सचेतक

थीं, दूरी बना ली। इसे हम किस रूप में देखें? हमें तो लगता है कि आदिवासी लेखक ही दलितों के साथ संवाद नहीं चाहते। यदि इन दूरियों को मिटाने का काम हुआ होता, तो आज दमित दलित और आदिवासी तबके शासक वर्ग का साथ नहीं देते।

मुझे यह स्पष्ट करना भी ज़रूरी लगता है कि दलित पिछड़ों में जिस स्वाभाविक एकता की बात की जा रही है, उसका आधार जातीय नहीं, बल्कि राजनीतिक है। इस राजनीतिक आधार पर दलितों-पिछड़ों की एकता के साथ आदिवासियों की एकता क्यों नहीं हो सकती? लेकिन इसके लिए सबसे पहले आदिवासी समाज को उन सवर्ण बुद्धिजीवियों के सोच से बाहर निकलने की ज़रूरत है, जो उन्हें दलितों से पृथक करने के मकसद से उनके छद्म मित्र बने हुए हैं। दलित लेखकों ने अपने बीच में ऐसे सवर्ण घुसपैठियों की दाल बिलकुल नहीं गलने दी।

अश्विनी कुमार पंकज का तर्क है कि ''ओबीसी साहित्य की अवधारणा औपनिवेशिक शासकों द्वारा परिभाषित जाति-श्रेणी के आधार पर प्रस्तावित की जा रही है।'' इस तर्क में दम नज़र आता है। उनका यह कहना भी मायने रखता है कि आदिवासी असुर थे, जिनकी अपनी सामूहिकता, सह-अस्तित्व, सहजीविता, सहभागिता थी और संघीय व्यवस्था के कारण आर्यों और देवों से हमेशा दूरी बनी रही और इसलिए वे वर्णाश्रम में नहीं समेटे जा सकें, लेकिन वर्णाश्रम में दलित भी नहीं आते। इसका कारण अस्पृश्यता नहीं, वरन उनका गैर-हिंदू होना है। डॉ. आंबेडकर ने इसी धारणा पर उन्हें अल्पसंख्यक वर्ग माना था, लेकिन अश्विनी कुमार पंकज की इस बात से इनकार शायद नहीं किया जा सकता कि जब तक उन्हें अपनी ज़मीन का एहसास नहीं था, वे तभी तक ब्राह्मण सत्ता के साथ रहीं; पर जैसे ही उन्हें अपनी ज़मीन का एहसास हुआ, उन्होंने अपनी सत्ता कायम कर ली। यह इसी एहसास का परिणाम है कि आज केंद्र सहित पूरी हिंदी पट्टी में ब्राह्मण सत्ता से बाहर हैं। क्या सामाजिक परिवर्तन कम महत्त्वपूर्ण है?

अब रहा यह सवाल कि उत्तर भारत के अनेक हिस्सों में पिछड़ी जातियों- तेली, कुर्मी, बनिया और कायस्थ की ज़मींदारियां हैं, तो इसका जवाब यह है कि ऐसी ज़मींदारियां भारत में लोकतंत्र के पूंजीवादी मॉडल की देन हैं। इसका इतिहास पीछे सामंती व्यवस्था तक जाता है। आगे वह इसी हवाले से ठीक कहते हैं कि ''पूंजीवादी व्यवस्था में लालू प्रसाद और नीतीश कुमार इसी सामाजिक-आर्थिक हैसियत (ज़मींदारी) के कारण सत्ता में आते हैं। रामविलास पासवान और बहन मायावती को भी किसी ब्राह्मणवादी गठजोड़ से परहेज़ नहीं है।'' यहां उनसे यह प्रतिप्रश्न किया जा सकता है कि जब ब्राह्मण सत्ता में था, तो उसे दलितों और पिछड़ों से गठजोड़ करने में परहेज़ क्यों नहीं था? यदि दलित-पिछड़ों के सहयोग से ब्राह्मण अपनी सत्ता कायम करता रहा है, तो दलित-पिछड़ों के नेता ब्राह्मणों से गठजोड़ करके अपनी सत्ता कायम करने में परहेज़ क्यों करें, यह कौन-सी समझ है? राजनीति में पार्टी का बेस (आधार) मायने रखता है। जिस पार्टी का बेस मूलतः जिस वर्ग का होता है,

उसकी सोच भी उसी वर्ग के हित से संचालित होती है। भारत में कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी दोनों ब्राह्मण बेसवाली पार्टियां हैं, पर वे ब्राह्मण बेस के बल पर सत्ता में नहीं आ सकतीं। उन्हें दूसरों का समर्थन चाहिए ही। कांग्रेस अभी तक दलित-पिछड़ों का समर्थन लेकर राज करती थी। दलित-पिछड़ों की राजनीति ने इसी समीकरण को पलट दिया। वे अब अपने बेस के साथ ब्राह्मणों का समर्थन लेकर उसी खेल को खेल रही हैं, जो कांग्रेस खेलती थी। इसमें परहेज़ कैसा? यही सामाजिक परिवर्तन की राजनीति है। हो सकता है कि यही परिवर्तन आगे चलकर जातिविहीन और वर्गविहीन समाज की संरचना में भी कोई भूमिका निभाए और जाति धर्म के मुद्दे हाशिए पर चले जाएं।

लेकिन अश्विनी कुमार पंकज की इस बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि ''समय के युद्ध में दो ही समुदाय लड़ रहे हैं- सुर और असुर; और इस ऐतिहासिक संघर्ष में दलित-पिछड़े कहीं नहीं हैं।'' इस सोच के साथ वह दलित-पिछड़ों के संघर्ष को नकार कर बहुजन साहित्य की अवधारणा से आदिवासी साहित्य को कैसे जोड़ पाएंगे?

(फारवर्ड प्रेस, अप्रैल, 2012)

बहुजन अस्मिताबोध एवं वैज्ञानिक चेतना

मुसाफ़िर बैठा

कथित मुख्यधारा के मेल में दीक्षित कुछ बुद्धिजीवी समाज या साहित्य में हाशिए की अस्मिता और वैज्ञानिकता को सहलाते विचारों को पचाने में अक्षम होते हैं। प्रगतिशील व वामपंथी कहे जानेवाले गैर-बहुजन रचनाधर्मियों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। चिंता वाली बात यह कि बहुजन समाज का बौद्धिक और चेतन समझा जाने वाला तबका भी जाने-अनजाने हेय परंपराएं या चलन की गिरफ़्त में आ खुद की अस्मिता के विरुद्ध हो उठता है अथवा विपरीत या विरुद्ध अस्मिताओं का प्रशस्ति गायन कर बैठता है।

सवर्ण इतिहासकार रोमिला थापर के विचार में 'धन्य हैं आदिवासी, जिन्होंने आदिम संस्कृति और संरचना को अपने मूल रूप में बरकरार रखा, जिससे इतिहासकारों को अध्ययन हेतु आवश्यक स्रोत उपलब्ध हो सके।' यह उनका शगल हो सकता है। अपने बौद्धिक व आत्मिक विकास के लिए वे किसी वंचित जाति अथवा समुदाय के आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से अविकसित बने रहने की आकांक्षा पाले, सवर्ण बौद्धिकों का 'प्रगतिशील या वाम' संस्कृति-विमर्श होता भी ऐसा ही है! पर दुखद यह है कि अनेक बहुजन लेखक भी अपने लेखन में यही दृष्टिकोण अपनाते हैं। बानगी के तौर पर निर्मला पुतुल जैसी कटु आदिवासी जीवन की भोक्ता और सचेत कवि भी जाने-अनजाने, आदिवासी संस्कृति की मूल पहचान को बनाए रखने की चिंता में दुबली हुई जाती हैं। कवि को आदिवासी संस्कृति के अनेक प्रतीक-चिह्नों से लगाव है, जो बहुत ही स्पष्ट अर्थों में एक अविकसित समाज के अवशेष हैं। विकास की प्रक्रिया में उनके विलुप्त होते जाने पर इस तरह अविवेक के आंसू बहाना आदिवासी समाज व संस्कृति का रक्षक अथवा हितचिंतक होना नहीं कहा जा सकता। परिवर्तनशील समय और समाज में मानवाधिकारों, लोकतांत्रिक अधिकारों को पाने में कमतर या अक्षम साबित होती किसी संस्कृति एवं पहचान की कल्पना वैज्ञानिक विश्वासों के मेल में नहीं की जा सकती। निर्मला पुतुल की कविता-पंक्तियां देखिए : ''जंगल नदी पहाड़ नहीं हों जहां/वहां मत कर आना मेरा लगन/वहां तो कतई नहीं, जहां की सड़कों पर/मन से

भी ज़्यादा तेज़ दौड़ती हों/मोटर गाड़ियां/ऊंचे-ऊंचे मकान/और दुकानें हों बड़ी-बड़ी/ ...चुनना वर ऐसा/जो बजाता हो बांसुरी सुरीली/और ढोल-मांदर बजाने में हो पारंगत'' ('उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!- कविता से')।

निर्मला पुतुल (संथाली) की तरह मूलतः आदिवासी भाषा (मुंडेरी) के युवा कवि अनुज लुगुन का परंपरा मोह भी चिंताजनक है, लुगुन सांस्कृतिक वंचना के विरोध और सामाजिक न्याय के पक्ष के गीत कविता के रूप में गाना चाहते हैं। वंचना की अभिव्यक्ति में आनंद ढूंढने की यह पारंपरिक सौंदर्यदृष्टि क्यों जीवित है? गोया, शोषकों द्वारा मिले दुःख-दर्द में भी मुख्यधारा के कवियों के सुर में सुर मिलाते हुए आह्लाद पाना ज़रूरी है, वर्चस्वशाली समाज के लेखकों के सौंदर्यबोध को डिट्टो करना वंचित पक्ष के लेखकों के लिए भी ज़रूरी है!

क्या दलित या मानववादी सौंदर्यबोध की कसौटी पर लुगुन अपनी इन अतीतरागी (कविता 'आदिवासी') पंक्तियों में खरे उतरते हैं? ''और वे जो नंगे पैर/ चुपचाप चले जाते हैं जंगली पगडंडियों में/कभी नहीं कहते कि/हम आदिवासी हैं/वे जानते हैं/जंगली जड़ी-बूटियों से/अपना इलाज करना/वे जानते हैं जंतुओं की हरकतों से/मौसम का मिज़ाज समझना/सारे पेड़-पौधे, पर्वत-पहाड़, नदी-झरने जानते हैं कि वे कौन हैं।''

अभावों भरे जीवन का यह महिमामंडन कवि की किस दृष्टि का परिचायक है? नंगे पांव चलने की बाध्यता, स्वास्थ्य के लिए जड़ी-बूटी मात्र पर निर्भरता की संस्कृति के प्रति भी दुलार भाव, कवि से कोई पूछे कि क्या उन्हें अब भी यही जीवन चाहिए? तो, ''अनुज लुगुन ने हिंदी साहित्य के पुरस्कारों का सवर्ण किला दरका दिया है।'' 'अघोषित उलगुलान' कविता के लिए भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार पाने पर किसी को ऐसा भी लगा है, तो कैसे और यह भी कि क्या यह सच नहीं है कि यह किला तो बहुत पहले दरक जाना चाहिए था?

अपनी रचनाओं में सवर्ण सत्ता का सीधे-सीधे कोई विरोध न करने, कथित मुख्यधारा की प्रगतिशील-वाम प्रणीत वर्गीय दृष्टि में ही अटकने-भटकने की कवायद में इन दोनों आदिवासी भाषा मूल के कवियों की सर्वस्वीकार्य छवि पाने और उज्ज्वल भविष्य तलाशने की बहुतेरी सचेत भंगिमाएं दिखती हैं, और इनकी हिंदी कवि के रूप में छवि स्थिर करने में वामपंथी माने जानेवाले चालबाज़, गणितबाज़ और सवर्ण कलमकारों की बड़ी भूमिका है।

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि प्रभु वर्गों की निर्मिति है देव या देवता संबंधी विचार। दैवी विधानों पर आश्रित सभ्यता-संस्कृति के समर्थन से तैयार किया गया कोई भी चलन बहुजनों-वंचितों का हितसाधक नहीं बन सकता, न तो प्राचीन, न ही अर्वाचीन। विवेक और विज्ञानसम्मत मानवोचित मूलाधिकार पाने की ज़्यादा ज़रूरत बहुजनों को है और यह हर प्रकार की दैवी परंपरा की क्षति और ध्वंस पर ही अधिक संभव है।

(फारवर्ड प्रेस, अप्रैल, 2012)

बहुजन साहित्य विमर्श

रेणु का पुण्य स्मरण

प्रेमकुमार मणि

इस महीने प्रख्यात कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु की पुण्यतिथि है। 11 अप्रैल 1977 को पेप्टिक अल्सर के ऑपरेशन के क्रम में उनकी मृत्यु हो गई थी, 'फॉरवर्ड प्रेस' का यह अंक बहुजन साहित्य पर केंद्रित है, और इस क्रम में रेणु को याद करना ज़रूरी लगता है।

रेणु जी से मेरी मुलाकात 1975 में हुई। मैं बाइस साल का युवा था, और वह लब्ध प्रतिष्ठ लेखक। उन दिनों पटना आज की तरह सांस्कृतिक रूप से दरिद्र नहीं था। डाकबंगला रोड पर एक खूबसूरत कॉफ़ी हाउस हुआ करता था, जिसे लोग शहर में सांस्कृतिक घर के रूप में महसूस करते थे। यहां हर शाम संस्कृतिकर्मियों एवं रचनाकारों का जमावड़ा लगता था। निश्चय ही तब के सामाजिक जीवन में संस्कृतिकर्मियों का कद राजनीति कर्मियों और पत्रकारों से ऊंचा होता था। कॉफ़ी हाउस का एक कोना रेणु कॉर्नर के नाम से जाना जाता था। रेणु जी वहीं बैठते थे। रेणु जी से मेरी पहली मुलाकात वहीं हुई थी। याद करने लायक बात यह है कि उन दिनों देश में आपातकाल लागू था और सरकार की नज़र में वह खतरनाक लेखक थे। कुछ लोग उनसे परहेज़ भी करते थे। लेकिन रेणु वीतराग भाव से रहते थे। उनके चेहरे पर एक आध्यात्मिक आभा और सौम्य निर्भीकता को मैंने चिन्हित किया था। हम जल्दी ही घुल-मिल गए। बीच-बीच में वह लंबे समय के लिए अनुपस्थित होते (गांव चले जाते थे) और अंततः बीमार होकर पटना मेडिकल कालेज अस्पताल में आए, जहां लंबे समय तक वह बिस्तर पर रहे।

जब वह अस्पताल में थे, तब प्रायः रोज़ ही मिलना होता था। अस्पताल में भी उनका एक कॉर्नर था। उनके इर्द-गिर्द एक परिमंडल लगा ही रहता था। उन्हें सुनना बेहद दिलचस्प होता था। आप उनके सामने वाचाल नहीं हो सकते थे। उनके व्यक्तित्व का सम्मोहन इतना गहरा था कि उनके समक्ष कोई अशिष्टता का महज़ प्रदर्शन नहीं कर सकता था। अज्ञेय के अलावा उनकी (रेणु की) तरह का परम अभिजात्य व्यक्तित्व मैंने नहीं देखा। बंगला नवजागरण के संस्कार और समाजवादी आंदोलन का तेज उनके व्यक्तित्व में ऐसे घुल-मिल गए थे कि दोनों को अलगाना मुश्किल

था। मेरा मानना है कि रेणु के व्यक्तित्व का अध्ययन-आकलन मात्र भी एक चुनौतीपूर्ण कार्य है।

समालोचकों ने रेणु साहित्य को आंचलिक बतला कर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली है। उनके साहित्य में आंचलिकता के तत्व हैं और यह उनके साहित्य की विशिष्टता है। यह उनकी प्रामाणिकता और जीवंतता का द्योतक है। आंचलिकता रेणु साहित्य का केंद्रीय तत्व नहीं है। केंद्रीय तत्व है वह सामाजिक दृष्टिकोण, जो रेणु का अपना था, और जो उनके माध्यम से उनके साहित्य में स्थान पा सका है। उनका पहला उपन्यास 'मैला आंचल' अपने विशिष्ट सामाजिक दृष्टिकोण के लिए महत्त्वपूर्ण है, न कि अपनी आंचलिकता के लिए। रेणु इसके माध्यम से भारत के महान स्वतंत्रता आंदोलन की पृथक व्याख्या करते हैं। 'मैला आंचल' का वर्णित गांव मेरीगंज जातियों में बंटा है। रेणु के शब्दों में 'यहां बारहों बरन के लोग रहते हैं।' 'सिपहिया टोले' (राजपूत टोले) के रामकिरपाल सिंघ अपने सामंती मिज़ाज में डूबे हैं। आज़ादी के आंदोलन में उनके भाग लेने की कोई सूचना नहीं है। उसमें तो भाग लेते हैं बालदेव यादव, चुन्नी गोसाई और बावनदास जैसे लोग। दो पिछड़े परिवार में जन्मे और एक निर्जात। रामकिरपाल सिंघ, विश्वनाथ प्रसाद और जोतखी जैसे लोग इस आंदोलन से अलग-थलग हैं। रेणु का मौन आग्रह होता है कि आजादी के संघर्ष को इस नए नज़रिए से देखा जाए।

रेणु ने हिंदी साहित्य में व्यवस्थित ढंग से जाति विकास की वकालत की। वर्ण और जाति के कुसंस्कारों पर वह निर्मम प्रहार करते हैं। प्रेमचंद के 'गोदान' में जो गांव है वह दूर से देखा गया है, रेणु ने भोगे हुए गांव को जस का तस रख दिया है। उनका गांव कृत्रिम नहीं, वास्तविक है।

लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रेणु ने जातिविहीन समतामूलक समाज की संकल्पना की है। 'मैला आंचल' का नायक प्रशांत अजात है। 'बचपन से ही वह अपने जन्म की कहानी को सुन रहा है। घर की नौकरानी, बाग का माली और पड़ोस का हलवाई भी उसके जन्म की कहानी जानता था ... प्रशांत अज्ञात कुलशील है। उसकी मां ने एक मिट्टी की हांडी में डालकर बाढ़ से उफनती हुई कोसी मैया की गोद में उसे सौंप दिया था। बस, यही उसके जन्म की कथा है, जिसे हर आदमी अपने-अपने ढंग से सुनाता है' ('मैला आंचल' से)। अज्ञेय ने हिंदी उपन्यास को शेखर के रूप में नास्तिक नायक दिया था। रेणु, एक निर्जात (जाति हीन) नायक देते हैं।

'मैला आंचल' को आशातीत प्रसिद्धि मिली थी, और रेणु हिंदी के साहित्याकाश में अचानक छा गए थे। वह लिजेन्ड बन गए थे। लेकिन इसके साथ ही उनकी जाति की तलाश भी शुरू हो गयी थी। द्विज प्रभुत्व वाले पटना के नागर समाज में बने रहने के लिए रेणु को अपने बारे में झूठी कहानियां गढ़नी पड़ी थीं। सुप्रसिद्ध आलोचक और रेणु पर स्वतंत्र मोनोग्राफ़ के लेखक डॉ. सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है, 'रेणु जी ने

अपने बारे में कुछ कहानियां प्रचारित की थीं। सब करते हैं। निश्चय ही, इनके पीछे कोई मानसिक कारण होता है, मन की कोई मांग होती है। कभी कोई सामाजिक उपेक्षा होती है।... ये अंतर्कथाएं केवल एक ही निर्देश करती हैं – रेणु के व्यक्तित्व का निर्माण गहरे भावनात्मक और सामाजिक अंतरविरोधों के भीतर से हुआ था। शायद इन्हीं तीखे विरोधों ने रेणु को लेखक, कार्यकर्ता और किसी हद तक क्रांतिकारी बनाया था।'

'दलित साहित्य' की चर्चा मराठी में 1970 के बाद हुई और हिंदी में तो और बाद में हुई। लेकिन 1957 में लिखे अपने उपन्यास 'परती परिकथा' में रेणु दलित-साहित्य की चर्चा करते हैं। हालांकि यह एक अगंभीर चर्चा है और लगता है रेणु साहित्य के इस पक्ष का मज़ाक उड़ाना चाहते हैं, लेकिन इस बहाने वह गांव के इस संकट को तो सामने ला ही देते हैं कि वहां खेले जाने वाले नाटकों में सवर्ण लोगों को ही नायकों की भूमिका में क्यों रखा जाता है।

अपने इलाके के सामाजिक क्रांतिकारी नक्षत्र मालाकार पर टिप्पणी करते हुए रेणु ने 1971 में एक साक्षात्कार में कहा था, 'नक्षत्र मालाकार का मतलब है – जनजीवन की एक जबरदस्त छटपटाहट।' हिंदी पाठक जानते हैं कि अपने उपन्यास 'मैला आंचल' में इसी पात्र को रेणु ने चलित्तर कर्मकार के रूप में चित्रित किया है।

रेणु का साहित्य आज भी विशिष्ट अध्ययन-अवलोकन व विमर्श का इंतज़ार कर रहा है। लेकिन इस कॉलम की तय शब्द संख्या के तहत मैं उनकी पुण्यतिथि पर अपनी विनम्र श्रद्धांजलि ही दे सकता हूं।

(फारवर्ड प्रेस, अप्रैल, 2012)

मुख्यधारा बने बहुजन अवधारणा

कंवल भारती

दलित साहित्य की अवधारणा को हिंदी साहित्य में जितने तीखे विरोध का सामना करना पड़ा, उसे देखते हुए ओबीसी साहित्य की अवधारणा भी शायद ही आसानी से स्वीकार की जाए, लेकिन दलित साहित्य ओबीसी साहित्य का स्वागत करेगा। इसके दो कारण हैं, पहला यह कि यह दलित साहित्य की बहुत बड़ी उपलब्धि होगी, खास तौर से दलित आंदोलन की, कि वह पिछड़ों में भी अपनी अस्मिता की चेतना विकसित करने में सफल हुआ है। आखिर इस सच्चाई को कैसे झुठलाया जा सकता है कि पिछड़ी जातियों के लिए मंडल कमीशन लागू करने की लड़ाई मुख्यतः दलितों ने ही लड़ी है। दूसरा कारण यह है कि हिंदी साहित्य में मुख्यधारा का निर्माण करने में ओबीसी साहित्य से बहुत बड़ी मदद मिलेगी, लेकिन यह होगा तब, जब ओबीसी साहित्य अपनी अवधारणा – सिद्धांत और वैचारिकी के साथ स्पष्ट करेगा। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूं कि ओबीसी साहित्य की अवधारणा पर जो विचार गत दिनों पढ़ने को मिले हैं, उनमें सिद्धांत और वैचारिकी स्पष्ट नहीं है, उसमें एक भावुक परिकल्पना है, जो विचारोत्तेजक ज़रूर है। ओबीसी साहित्य की पहचान कैसे होगी, अभी यह स्पष्ट नहीं है।

ओबीसी साहित्य को दलित साहित्य से काफी पहले आ जाना चाहिए था। यदि वह अब आ रहा है, तो यह अवश्य ही दलित साहित्य के विस्फोट का प्रतिफलन है। वह जब भी अस्तित्व में आएगा, तो मुख्यतः उसका टकराव दलित साहित्य से होगा। उसकी तुलना भी दलित साहित्य से की जाएगी। दलित लेखक भी उसका एक तुलनात्मक मूल्यांकन ज़रूर करेंगे और इस मूल्यांकन में सबसे बड़ी समस्या उसकी पहचान की होगी अर्थात्, उसे पहचाना किस आधार पर जाएगा, उसके दर्शन के मूल सिद्धांत क्या होंगे? जिस तरह दलित साहित्य की एक पहचान है, उसके मूल में जोतिबा फुले, डा. आंबेडकर, बुद्ध और कबीर–रैदास का दर्शन है, वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता का खंडन उसकी मुख्य वैचारिकी है, उस प्रकार ओबीसी साहित्य का दर्शन क्या होगा? दलित साहित्य ने दलित वर्गों के नायकों को अपनाया है, जिनमें पिछड़ी जातियों के नायक भी शामिल हैं। क्या ओबीसी साहित्य ऐसा करेगा? क्या वह आंबेडकर से दूरी बनाएगा और फुले-बुद्ध को अपनाएगा? पिछड़ी जातियां शूद्र हैं, वे वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत आती हैं।

इस दृष्टि से वे सवर्ण जातियां भी हैं। संभवतः यही कारण है कि वे स्वयं को दलितों से उच्च मानती हैं और उनके प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार भी करती हैं। यह भी गौरतलब है कि जाति की पीड़ा की जैसी कटु अनुभूतियां दलितों को है, पिछड़ी जातियों को बिलकुल नहीं है। दलित साहित्य अपनी इन्हीं अनुभूतियों के बल पर हिंदी साहित्य में सबसे विशिष्ट साहित्य बना हुआ है। ओबीसी साहित्य की विशिष्टता क्या होगी? ओबीसी अभी तक कोई राजनीति नहीं विकसित कर सका है, वह साहित्य क्या विकसित करेगा? साहित्य और राजनीति का विकास होता है सामाजिक आंदोलन से, किंतु दलित आंदोलन की तरह या उसके समानांतर पिछड़े वर्गों का कोई आंदोलन देशव्यापी नहीं हो सका। मंडल आंदोलन भी दलित आंदोलन का ही हिस्सा था। ओबीसी ने इस आंदोलन में भाग तक नहीं लिया था, कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो जिस समय दलित आंदोलन मंडल के पक्ष में पिछड़ों को लामबंद कर रहा था, पिछड़े लोग कमंडल के साथ बाबरी मस्जिद ढहाने में लगे हुए थे। दलित और ओबीसी में जो मूल अंतर है, वह यह है कि दलित अपने को हिंदू नहीं मानते, जबकि पिछड़ी जातियां स्वयं को हिंदू मानती हैं। दलित साहित्य 'न हिंदू' (या अहिंदू) वैचारिकी का साहित्य है। ओबीसी साहित्य की वैचारिकी क्या होगी, एक हिंदू की या 'न हिंदू' की?

ओबीसी साहित्य की अवधारणा पर अपनी विस्तृत चर्चा में (देखें इस पुस्तक में पेज - 21) राजेंद्र प्रसाद सिंह ने भी कई सवाल खड़े किए हैं। उनके इस तर्क से बिलकुल भी इनकार नहीं है कि यदि दलित साहित्य हो सकता है, तो ओबीसी साहित्य क्यों नहीं, पर सवाल यह है कि वह है कहां? सिद्धों से लेकर जयशंकर प्रसाद और राजेंद्र यादव से प्रेमकुमार मणि तक नाम गिनाने से ओबीसी साहित्य नहीं बनता। निस्संदेह, सिद्धों में बहुत-से सिद्ध दलित-पिछड़ी जातियों से थे, जिनकी संख्या तीस तक जाती है, पर वे सभी सिद्ध परंपरा के कवि हैं, किसी पृथक धारा के नहीं, जिन्हें हम ओबीसी साहित्य से जोड़ दें। इसमें भी संदेह नहीं कि मध्यकाल में, भक्त कवि हुए हैं, दक्षिण में भी और हिंदी क्षेत्र में भी, पर क्या उनके काव्य को दलित-पिछड़े के आधार पर रेखांकित किया जा सकता है? यदि किया जा सकता है तो कबीर, रैदास और नामदेव को अलग करके राजेंद्र प्रसादजी क्यों नहीं दिखाते? उनकी यह सूचना सचमुच महत्त्वपूर्ण है कि 18वीं सदी में कोई सरभंग संप्रदाय था, जिसके सभी कवि ओबीसी के थे और छतर बाबा उसके आदि कवि माने जाते हैं। इस संप्रदाय पर उन्हें काम करना चाहिए और उनकी रचनाएं प्रकाश में लानी चाहिए। वे ओबीसी साहित्य का सचमुच ही आदि आधार बन सकती हैं, पर यदि जैसा कि वे कहते हैं, सरभंगी कवि जाति-पांति, तीर्थ-व्रत आदि ब्रह्माचार को पाखंड मानते थे और मनुष्य को छुआछूत के नियंत्रणों से परे, तो मैं नहीं समझता कि वे इस मायने में रैदास से भिन्न हैं? या अपनी अवधारणा में वह किस अर्थ में ओबीसी साहित्य है, दलित साहित्य से पृथक या उसके समानांतर? और आधुनिक हिंदी साहित्य में जिस जयशंकर प्रसाद को वह ओबीसी का मानकर अत्यंत तेजस्वी रचनाकार कह रहे हैं, वह ब्राह्मणवाद के भी अत्यंत तेजस्वी प्रवक्ता थे। यदि इसी आधार

पर ओबीसी साहित्य की अवधारणा तय की जा रही है, जिसमें जाति प्रमुख है, विचारधारा नहीं, तो मुझे नहीं लगता कि वह साहित्य क्रांतिधर्मी होगा।

मेरी दृष्टि में, ओबीसी साहित्य भी स्वतंत्रता, समता और बंधुता-मूलक ही होगा और ऐसी स्थिति में कोई विभाजन रेखा दलित और ओबीसी साहित्य के बीच कैसे खींची जा सकती है? यहां राजेन्द्र प्रसाद सिंह बिलकुल ठीक कहते हैं कि दलित और ओबीसी धारा के सिद्धांत और व्यवहार पक्ष समान हैं और इसका कारण भी वे सही बताते हैं कि दोनों का ही लक्ष्य जातिविहीन समाज की स्थापना करना है। उनकी इस बात से भी पूरी सहमति व्यक्त की जा सकती है कि ओबीसी साहित्य अत्यंत दमदार है और विपुल मात्रा में उपलब्ध भी है, पर जैसा कि वे खुद भी मानते हैं, यह विपुल मात्रा कोई अर्थ नहीं रखती, अगर उसे पिछड़ा-विमर्श के रूप में कायदे से रेखांकित नहीं किया जाएगा। जब यह काम हुआ ही नहीं है और कोई भी पिछड़ी जाति का लेखक, चाहे राजेंद्र यादव हों, प्रेमकुमार मणि हों, मधुकर सिंह हों, संजीव हों, शिवमूर्ति हों, दिनेश कुशवाहा या वीरेंद्र सारंग हों, ओबीसी साहित्य की अवधारणा के साथ न लिख रहा है और न उस रूप में अपने को खुलकर व्यक्त कर रहा है, तो आप यह आरोप कैसे लगा सकते हैं कि ''ओबीसी साहित्य सवर्ण साहित्य और दलित साहित्य के बीच कराहता हुआ साहित्य है?'' यह एक ऐसा आरोप है, जिसका आधार ही नहीं है। कोई चीज़ जब है ही नहीं, तो दो पाटों के बीच उसके पिसने की बात कोरी कल्पना ही है। पहले ओबीसी साहित्य अपनी अवधारणा के साथ अस्तित्व में तो आए; उसकी दिशा और दशा तो उसके बाद ही तय होगी।

लगभग एक दशक पहले बिहार में कुछ ओबीसी के लोगों ने 'अवर्ण साहित्य' की अलख जगाई थी, एक सम्मेलन भी उसका पटना में हुआ था और उस अवसर पर एक स्मारिका भी निकाली गई थी, जिसमें मैंने भी लिखा था। पटना से ही रवीन्द्र लड्डू ने संभवतः इसी अवधारणा को लेकर शंबूक नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन भी आरंभ किया था। सत्तर के दशक में रामस्वरूप वर्मा ने लखनऊ में अर्जक संघ बनाकर अर्जक साहित्य की भी बुनियाद रखी थी, जिसे हम ओबीसी साहित्य की अवधारणा से जोड़ सकते हैं। इस पूरे आंदोलन को दलितों ने भरपूर समर्थन दिया था। यह पूरा आंदोलन ब्राह्मणवाद के खिलाफ़ था, जिसने दलितों और पिछड़ों दोनों को उद्वेलित किया था। आगे चलकर यह आंदोलन राजनीति का शिकार हो गया और ओबीसी साहित्य की जो अवधारणा उसने बनाई थी, उसमें ओबीसी लेखकों ने ही कोई रुचि नहीं ली। इतिहास के ये पृष्ठ राजेंद्र प्रसाद सिंह और हमारी पीढ़ी के समय के ही हैं और ये वे सच्चाइयां हैं, जिन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। फिर, जातियों की संख्या गिनाकर दलित साहित्य को ओबीसी साहित्य को दबाने का दोष देना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है।

और क्या ही अच्छा हो, दलित साहित्य भी न रहे और ओबीसी साहित्य भी! हम साहित्य में बहुजन अवधारणा को मुख्य धारा के रूप में स्थापित करें।

(फारवर्ड प्रेस, नवंबर, 2011)

भारतीय सर्वहारा के रूप में बहुजन

अरविंद कुमार

बहुजन साहित्य क्या है? यह सवाल उठाता और उसका जवाब देता है फारवर्ड प्रेस का दूसरा 'बहुजन साहित्य वार्षिक अंक' (अप्रैल, 2013)। इस विषय पर अनेक दृष्टिकोणों से चर्चा, परिचर्चा और विचार विमर्श करनेवाले इस अंक के अठारह लेख अपनी विविधता और पैनी धार के लिए बहुत दिनों तक याद रखे जाएंगे, पत्रिका के संपादकों की मान्यता है कि बहुजन साहित्य के पितामह हैं महात्मा जोतिबा फुले, इस मान्यता के समर्थन में मुख्य संपादक आयवन कोस्का तर्क देते हैं कि 'यद्यपि बाबासाहब (भीमराव आंबेडकर) दलित लेखकों की कई पीढ़ियों के प्रेरणास्रोत थे, तथापि वे स्वयं लेखक नहीं थे, जबकि फुले स्वयं साहित्य रचयिता थे।'

प्रबंध संपादक प्रमोद रंजन अपने संपादकीय लेख 'बहुजन साहित्य और आलोचना' में पूछते हैं, 'हम किसी साहित्य को कैसे देखें, कैसे उसे दूसरों से अलगाएं और उसकी विशेषता, उसके महत्त्व, उसके उद्देश्य, उसके प्रभाव को कैसे समझें, किस कोण से उसका आस्वाद अधिक से अधिक ग्रहण किया जा सकता है, क्या यह बताना आलोचना का दायित्व नहीं है?' सचमुच हम पाते हैं कि अरसे से हिंदी आलोचना इस दायित्व को नहीं निभा रही है, जैसा कि प्रमोद रंजन लिखते हैं, 'अपनी द्विज सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण, हिंदी के कुछ नामचीन आलोचकों ने शूद्रों और अतिशूद्रों के साहित्य को अलग से अपने संज्ञान में नहीं लिया', वे इसके दायरे को विशाल करने के लिए इसके अंतर्गत दलित, शूद्र, आदिवासी तथा स्त्री साहित्य की भी गिनती करते हैं।

इस अंक में सभी लेखों के विषय हैं - बहुजन साहित्य क्या है, इसकी प्रासंगिकता क्या है, है भी या नहीं है। हरिनारायण ठाकुर अपने लंबे लेख दलित और बहुजन साहित्य की मुक्ति चेतना में इसके मूल उद्भव और विकास में राजा राम मोहन राय, विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, पेरियार और आंबेडकर को गिनते हुए कहते हैं कि 'इस महामंडल के दो अन्य सदस्य फुले और गांधी ही ऐसे हैं, जिनके आगे महात्मा शब्द लगा है', इस प्रकार, इस साहित्य का विराट ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य पाठक

को मिलता है। इस अंक में इतिहास को और पीछे संत रैदास तक ले जाती हैं सपना चमड़िया।

एक मुख्य सवाल है मार्क्सवाद का, अंक के एक लेख में हरेराम सिंह कहते हैं- 'सर्वहारा (प्रोलेतेरिएत) के साथ बहुजन शब्द जोड़ना मैं उचित समझता हूं, क्योंकि पूंजी ही समाज में सब कुछ नहीं है।'

यहां मैं अपने निजी अनुभव से कुछ जोड़ना चाहूंगा। पचास आदि दशक में मैं कांग्रेस छोड़ कर कम्युनिस्ट पार्टी का उत्साही सदस्य बना था। कांग्रेस में हम नौजवान गांधीजी के उद्धार आंदोलन के अंतर्गत 'हरिजन' बस्तियों में शिक्षा का प्रसार करने, बच्चों और बुज़ुर्गों को पढ़ाने जाया करते थे, कम्युनिस्ट पार्टी की करोल बाग़ ब्रांच में मुझे चित्रकार रामकुमार, उनके छोटे भाई चिंतक व लेखक निर्मल वर्मा और भविष्य के सुप्रसिद्ध चित्रकार स्वामीनाथन से निकट संपर्क का सौभाग्य मिला और मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा भी। जिला स्तर की एक मीटिंग में मैं अपने अज्ञानवश निर्मल से पूछ बैठा, 'कामरेड, हमारी हरिजन नीति क्या है?' मुझे एक बिल्कुल अस्वीकार्य समाधान दिया गया, 'साम्यवाद में पूंजीवादी, सर्वहारा आदि वर्ग होते हैं, हरिजन इनमें से कुछ भी नहीं है। इसलिए इस संबंध में हमारी कोई अलग नीति हो ही नहीं सकती, मैं उत्तर से संतुष्ट तो नहीं था, पर सोचा कि कोई गंभीर बात है, जो बाद में समझ में आएगी। साठ आदि दशक आते-आते न निर्मल साम्यवादी रहे थे, न मैं। अफ़सोस की बात यह रही कि निर्मल हिंदूवाद के पैरोकार बन गए और मै उसका कट्टर विरोधी था और अब तक हूं, अतः मैं हरेराम जी और राजेंद्र प्रसाद सिंह के इस कथन से तो सहमत हूं कि 'सर्वहारा के साथ बहुजन शब्द जोड़ना उचित है' हालांकि उनकी अन्य कुछ बातों से मेरी असहमति भी है। हमारे लिए यह समझना भी ज़रूरी है कि औद्योगिक क्रांति के काल में यूरोपीय सामाजिक और आर्थिक स्थिति में उपजा मार्क्सवाद भारत सहित पूर्व की तथा अफ़्रीकी समाजों की समस्याओं का कोई संतोषप्रद समाधान नहीं दे सकता, न दे पाया है। स्वयं चीन में मार्क्स के सैद्धांतिक मंतव्यों को, बाद में माओ के सिद्धांतों को ताक़ पर रख देना पड़ा है। बहरहाल, फारवर्ड प्रेस की इस साहित्य वार्षिकी ने कई सवाल हमारे सामने रखे हैं, जिनके उत्तर तलाशे जाने चाहिए। उम्मीद है इस पत्रिका की अगली वार्षिकी में इन सवालों के उत्तर भी तलाशने की कोशिश होगी।

(फारवर्ड प्रेस, सितबर, 2013)

‘बहुजन’ सिर्फ जातियों पर आधारित होंगे?

देवेंद्र चौबे

पिछले कई दशकों और सदियों से साहित्य को परिभाषित करने की चेष्टा वैचारिक आंदोलनों के स्तर पर होती रही है। किसी ने कहा कि साहित्य जीवन का यथार्थ है तो किसी ने उसे समाज का दर्पण माना। कोई विचारधारा को ही साहित्य मानता है तो कोई आंदोलनधर्मी समाज को लेकर किए जा रहे लेखन को साहित्य की श्रेणी में रखने की मांग करता है। इसी प्रकार कोई साहित्य को जीवन का सहज प्रवाह मानता है जो लंबे समय से एक धारा ऐसी रही है, जो भाव और विचार के सम्मिश्रण को साहित्य मानने की वकालत करती रही है, लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आखिर साहित्य है क्या और क्या इसे किसी परिभाषा में तय करना जरूरी है? नब्बे के दशक में जब मंडल कमीशन लागू होने के बाद राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएं शुरू हुईं, तो भारतीय समाज के बहुत बड़े समुदाय ने अपने लेखन को दलित साहित्य कहना शुरू किया।

प्रसिद्ध कथाकार और ‘हंस’ के संपादक राजेंद्र यादव और मार्क्सवादी आलोचक मैनेजर पांडे ने साहित्य में आए इस नए लेखन का स्वागत और समर्थन किया तथा अश्वघोष की रचना ‘वज्रसूची’ के बहाने इस साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या करने की कोशिश की, लेकिन वहीं राजेन्द्र यादव ने एक सम्मेलन में जब दलित साहित्य को भारतीय समाज की वर्ण एवं जाति व्यवस्था में अनुसूचित जाति कहे जानेवाले समाज से हटकर एक बड़े कैनवस से इस साहित्य को जोड़ने की वकालत की, तब उनका भारी विरोध किया गया था, जबकि उनका सीधा लक्ष्य था कि दलित साहित्य के दायरे को विस्तृत किया जाए, ताकि शोषित और वंचित सामाजिक तबके के साहित्य को भी दलित साहित्य के दायरे में रखा जा सके।

‘फारवर्ड प्रेस’ जिस बहुजन साहित्य की अवधारणा को विकसित करते रहने की बात करता रहा है, हो सकता है आनेवाले समय में वह साहित्य की एक नई अवधारणा के रूप में स्थापित हो, यदि उसमें शूद्र, अतिशूद्र, आदिवासी समाज और स्त्री समाज जैसे अन्य शोषित और वंचित तबके भी शामिल हों, लेकिन यहां इस बात पर भी विचार किया जाना चाहिए कि क्या ‘बहुजन’ का अर्थ सिर्फ यही

सामाजिक समुदाय होंगे और क्या उनका संबंध सिर्फ जातियों पर ही आधारित होगा?

दूसरी बात इस बहुजन की सैद्धांतिकी क्या होगी? कारण, कोई भी धारणा एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया के बाद निर्मित होती है। उसके केंद्र में व्यक्ति और समाज की मूलभूत समस्याएं होती हैं। उनसे समाज लगातार जूझता रहता है। मुक्त होने की कोशिश करता है और जड़ता इतनी बड़ी होती है कि कई बार उस समाज के मुक्त होने और एक नई स्थिति में आने में कई सदियां लग जाती हैं। भारतीय समाज में दलित समाज और वैश्विक समाज में अश्वेत समाज इसके उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार कबीर और नागार्जुन जैसे रचनाकार हिंदी साहित्य में ऐसे उदाहरण हैं, जिनके लेखन को बहुधा लोग साहित्य की श्रेणी में नहीं रखते हैं, जबकि ये दोनों रचनाकार अपने लेखन में व्यवस्था और समाज की जड़ता को तोड़ने का प्रयास करते हैं, उसके लिए एक सामाजिक चेतना विकसित करते हैं, यहां तक कि व्यवस्था की जड़ता को तोड़ने के लिए ये लेखक सामाजिक विरोध के स्तर तक जाते हैं। इस प्रकार के अनेक लेखक और व्यक्ति समाज में रहे हैं, जिनके तर्कसंगत मूल्यांकन के लिए ओबीसी आलोचना की जरूरत राजेंद्र प्रसाद सिंह को होती है तो नागार्जुन का मूल्यांकन कर किसी आलोचना की मांग की जाए? कारण, कबीर को तो कई आलोचक मिले, लेकिन नागार्जुन को कई मार्क्सवादी या प्रगतिशील और पारंपरिक आलोचक कवि मानते ही नहीं हैं। कुछ पारंपरिक आलोचक तो उन्हें पार्टी का परचा लिखनेवाला प्रचारक तक मानते हैं। मुझे लगता है कि लेखक के बदले उसके लिखे के मूल्यांकन के लिए एक तर्कसंगत पद्धति का विकास करने की जरूरत है।

कई बार ऐतिहासिक और सामाजिक स्थितियों के साथ ही भौगोलिक स्थितियां भी लेखकों अथवा विचारकों के मूल्यांकन में बाधा उपस्थित करती हैं। कई बार ऐसी बाधा जान-बूझकर भी उपस्थित की जाती है, लेकिन सामाजिक सरोकारों से जुड़ा साहित्य या विचार समयानुसार अपनी अर्थवत्ता ढूंढ लेता है।

जोतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले ने जाति-व्यवस्था और ब्राह्मणवादी जड़ता के खिलाफ जो आंदोलन शुरू किया, उसका व्यापक असर अपने समय के समाज पर दिखाई पड़ता है। हिंदी में 19वीं शताब्दी के आखिरी दशकों और 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में इन दोनों विचारकों की उपस्थिति राधामोहन गोकुल जैसे लेखकों के लेखन में दिखलाई पड़ती है। हिंदी के क्षेत्र में राधामोहन गोकुल इनके कार्यों की सिर्फ तारीफ ही नहीं करते हैं, अपितु उनकी अनिवार्यता भी बताते हैं, लेकिन गांधी और आंबेडकर के आने के बाद स्वाधीनता आंदोलन के दौर में हिंदी पट्टी की वैचारिकता राष्ट्रवाद से अधिक प्रभावित दिखलाई पड़ती है। लेकिन ऐसा नहीं है कि समाज व्यवस्था से जुड़े सवाल यहां अनुपस्थित हैं। चौथे दशक के प्रारंभ में अनेक ऐसे प्रयास होते हैं, जिन पर आंबेडकर और फुले का प्रभाव देखा जा सकता है।

दरअसल, विचार और साहित्य की दुनिया मूलतः अपने समय के सवालों से टकराती है। कई बार उन सवालों में कुछ प्रसंग अनुपस्थित होते हैं, पर उससे यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि वे सवाल जरूरी नहीं हैं। कई बार हम साहित्यिक अवधारणाओं का विकास करते हैं तो यह भूल जाते हैं कि समाज का जो स्थाई भाव है, वह किसी खास जाति या संप्रदाय की बजाय, समाज की मूलभूत समस्याओं से निर्मित होता है। उसमें मनुष्यता का भाव केंद्रीय भाव होता है और साहित्य या विचार इसी मनुष्यता के भाव को बचाने का प्रयास करते हैं। कबीर, जोतिबा फुले, भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, महात्मा गांधी, आंबेडकर, पेरियार, भगत सिंह, प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन, फणीश्वरनाथ रेणु, राममनोहर लोहिया, चारु मजूमदार, फैज अहमद फैज, महाश्वेता देवी, यूआर अनंतमूर्ति आदि जैसे लेखक और विचारक अपने लेखन और आंदोलनों में जीवन के उसी स्थाई भाव को निर्मित करने का प्रयास करते हैं, जिससे मनुष्यता बची रहे और समाज सामूहिक चेतना के साथ-साथ विकास की प्रक्रिया का हिस्सा बने। बहुजन साहित्य की यदि धारणा निर्मित होती है तो उसके केंद्र में मनुष्यता के इसी भाव को बचाने का प्रयास होना चाहिए, जिससे कि समाज में विवेकशीलता बनी रहे।

साहित्य हमेशा ऐसे ही सच के समर्थन में खड़ा होता है, जो लोक समाज को आगे ले जानेवाले होते हैं। सच के कई रूप हैं। जाहिर है सामाजिक असंगतियां भी हमारे समय के समाज की एक बहुत बड़ी सच्चाई हैं। नया साहित्य इन सवालों से टकरा रहा है और एक ऐसी चेतना विकसित करने का प्रयास कर रहा है, जिससे कि मनुष्यता बची रहे। अगर मनुष्यता बची रहेगी तो हमारी सामाजिकता भी बची रहेगी और यह दुनिया और बेहतर होगी।

(फारवर्ड प्रेस, साहित्य वार्षिकी, मई, 2014)

बहुजन साहित्य : कुछ नोट्स

अमरेन्द्र कुमार शर्मा

बहुजन साहित्य की सोच का रास्ता अभिजन साहित्य के विलोम से उत्पन्न होता है। दोनों में कभी टकराहटें, कभी संघर्ष और कभी समांतरता लक्षित की जा सकती है। साहित्य, सामाजिक अंतर्विरोधों की अनवरत यात्रा करता है, वह अपने समय के इतिहास से कभी टकराता है और कभी साथ चलता है। मनुष्य विकास का इतिहास अंततः मनुष्य द्वारा प्रगति की दिशा में किया गया आचरण होता है, उस आचरण के नियम दर्शन के तत्व निश्चित नहीं करते, बल्कि उसे इतिहास के नियम निश्चित करते हैं। (मनुष्य और धर्म चिंतन रावसाहेब कसबे) और इसी इतिहास की 'क्लोज रीडिंग' द्वारा बहुजन साहित्य, बहुजन साहित्य के रूप में अपनी जड़ें तलाशता हुआ समय के इतिहास को टटोलता है। अप्रैल, 2012 में प्रकाशित फारवर्ड प्रेस की 'बहुजन साहित्य वार्षिकी' से गुजरते हुए हम देखते हैं कि बहुजन साहित्य की अवधारणा सातवीं शातब्दी ई.पू. के आस-पास से लेकर बीसवीं शताब्दी तक की यात्रा 'कौत्स', मक्खली घोशाल, बुद्ध, कबीर, महात्मा जोतिबा फुले, पेरियार, भारतेंदु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, फणीश्वरनाथ रेणु, राममनोहर लोहिया आदि के माध्यम से तय करती है। इन सबके पास बहुजन साहित्य उनके लिखे की तुलना में उनकी जाति के आधार पर पहुंचता है। उनके लिखे का उल्लेख और उसका विश्लेषण बहुजन साहित्य की धारणा में कम हुआ है और यही बहुजन साहित्य की सीमा भी है, जबकि हम जानते हैं कि उपर्युक्त भाष्यकार दार्शनिक, रचनाकार अपने लिखे के आधार पर प्रसिद्ध और कालजयी हुए, न कि अपनी जाति के आधार पर। साहित्य की प्रवृत्ति और उसके सरोकार साहित्य के मूल्याकंन का निकष होते हैं, न कि साहित्य के रचनाकार की जाति विशेष। मैं जहां फारवर्ड प्रेस के इस अंक में प्रमोद रंजन द्वारा लिखे गये संपादकीय लेख की इस बात से सहमत होता हूं कि,'प्रतिगामी रुझान अकेले नहीं होते, इनका एक पूरा पैकेज होता है। अगर आप जाति को लेकर रूढ़ हैं तो स्त्रियों के प्रति भी आपका नजरिया वही रहेगा' (फारवर्ड प्रेस, अप्रैल, 2012) वहीं दूसरी ओर मैं वीरेंद्र यादव के लेख 'ओबीसी साहित्य की अवधारणा कितनी प्रासंगिक?' (देखें, पेज - 54) में उठाए मुद्दे से कई जगह सहमत होता हूं, उन्होंने बिलकुल

ठीक लिखा है, 'लेखकों को ओबीसी की कोटि तक सीमित करना हिंदी साहित्य की मुख्यधारा को अभिजनवादी सरोकारों के आगे परोस देना है।' उन्होंने जिन लेखकों के नाम गिनाए हैं, उनकी स्वीकृति हिंदी साहित्य और समाज में उनकी जाति के कारण नहीं, बल्कि उनके लिखे साहित्य और उनके बहुजन सरोकारों के कारण है। बहुजन साहित्य को अपने किसी 'रूढ़ पैकेज' में रूपायित होने की संभावना से स्वयं को बचाए रखना है और यह सबसे बड़ी चुनौती उसके सामने है।

राजेन्द्र प्रसाद सिंह का लेख 'बहुजन साहित्य और आलोचना' बहुजन साहित्य के बारे में कुछ जरूरी सवाल उठाते-उठाते भटकाव का शिकार हो जाता है। वे एक जगह लिखते हैं, 'ऐसे भी बहुजन साहित्य का मानदंड, उसका काव्यशास्त्र और उसका सौंदर्यबोध अलग है।' लेकिन कहीं भी उन मानदंडों, काव्यशास्त्रों, सौंदर्यबोधों की व्याख्या/विश्लेषण नहीं करते। राजेन्द्र प्रसाद सिंह बहुजन साहित्य में ओबीसी साहित्य, दलित साहित्य, आदिवासी साहित्य और एक सीमा तक स्त्री विमर्श के साहित्य को शामिल करते हैं। (क्यों? सवाल पूछा जा सकता है।) यह हैरान करने वाली बात है कि अपने लेख के विस्तार में वे तार सप्तक के बहाने और अन्य संदर्भों के बहाने भी अपनी बहुजन साहित्य की धारणा को सिद्ध नहीं कर पाते, वे 'कायस्थ कुल शिरोमणि' जैसे भटकावों के शिकार हो जाते हैं। वे 'मार्क्सवादी आलोचना भारत में बेईमानी है' जैसे सरलीकृत वक्तव्यों की गिरफ्त में आ जाते हैं। वे यह जरूर जानते होंगे कि अगर उन्हें मार्क्सवादी आलोचना को बेईमान कहने की सुविधा मिली है तो यही सुविधा मार्क्सवादी आलोचना के पास भी है।

राजेंद्र प्रसाद सिंह कहते हैं कि ''ओबीसी रचनाकार (बहुजन रचनाकार क्यों नहीं) के मूल्यांकन के लिए ओबीसी आलोचना पद्धति की जरूरत है।'' ओबीसी आलोचना पद्धति क्या है, इसका कोई ठोस उत्तर उनके पास नहीं है। मार्क्सवादी या द्विजवादी आलोचना (?) और उसकी मानसिकता को गहरे और ठोस आधारों पर चुनौती देने के लिए यह जरूरी होगा कि हम एक ठोस सैद्धांतिक और व्यावहारिक शुरुआत करें, इसके लिए वीरेंद्र यादव के शब्दों में 'एक अलग कुनबा' स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है, खासकर तब, जब 21वीं सदी की चुनौतियां अपने बहुरंगी रेशमी तरीके से हमारे जीवन में धीरे-धीरे समाहित होती जा रही हैं और जिसकी हमें खबर तक नहीं होती। 21वीं सदी के पूंजी- समय की कई परतें हैं, जिसके नीचे कई-कई सच्चाइयां, चीखें और सिसकियां, संघर्ष और प्रतिरोध खास तरह के कुहरीलेपन के शिकार हैं, इन परतों को भेदने के सभी तो नहीं, लेकिन एक औजार कार्ल मार्क्स की 1844 की आर्थिक-दार्शनिक पांडुलिपियों में हमें मिलता है। वे लिखते हैं, 'खनिजों का सौदागर खनिजों में केवल वाणिज्यिक मूल्य देखता है, खनिज के सौंदर्य तथा विशिष्ट स्वरूप को नहीं, उसमें खनिज विज्ञान की कोई अनुभूति नहीं होती।' दुनिया के भूगोल में कीचड़ से सनी धान रोपती महिलाएं/पुरुष कभी घृणास्पद नहीं होते/लगते हैं। राजेन्द्र प्रसाद सिंह का यह बयान निराधार लगता

है। भारत में कृषि संस्कृति की परंपरा का राष्ट्र-राज्य की नीतियों के कारण जिस तरह से ह्रास हुआ है, उस पर गंभीरता से विचार और उस विचार के अनुसरण में कार्यवाही की आवश्यकता है। राजेन्द्र प्रसाद जी को उस पर बात करनी चाहिए थी। बहुजन सहित्य को अभी अपनी दार्शनिक प्रणाली स्पष्ट करनी है और अपने विस्तार और उद्देश्यों को परिभाषित भी करना है।

बहुजन सहित्य के सामाजिक आधारों में आर्थिक स्थितियों पर हमें गंभीर चर्चा करनी चाहिए। कंवल भारती (और अनीता भारती) के इस महत्त्वपूर्ण सवाल (जो उनके विश्लेषण में उत्तर की तरह है) का जवाब कि 'दलित समुदाय (बल्कि हर वर्ग और हर समुदाय) में एक मलाईदार तबका पैदा हो गया है,' का ठीक-ठीक विश्लेषण होना चाहिए (ब्राह्मणवाद हर वर्ग में मौजूद है) क्योंकि दुनिया के किसी भी हिस्से के साहित्य का अपना एक आर्थिक पक्ष होता है, साहित्य उससे प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। सामाजिक संबंध भी इसी आधार पर तय किए जाते हैं।

बहुजन साहित्य का राजनीतिक पक्ष क्या है? इस पर बात बुनियादी स्तर से होनी चाहिए। 21वीं सदी में, जबकि विचार के सामने पूंजी सबसे बड़ा पक्ष बनकर उभरा है, किसानों की जमीनों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कब्जा लगातार जारी है। 'अंकल सैम' अपनी नई शातिर नीतियों से हमारे रोजमर्रा के जीवन को प्रभावित करने लगे हैं। बहुजन साहित्य को अपना पक्ष साफ-सुथरे तरीके से रखना होगा।

बहुजन साहित्य यदि समाजिक परिवर्तन में अवांगार्द की भूमिका निभा सकता है, उसके लिए अपने आपको तैयार कर सकता है, तब ही बहुजन साहित्य की अवधारणा एक साहित्यिक दार्शनिक अवधारणा के रूप में विकसित हो सकती है और वर्चस्ववादी प्रणालियों के विरुद्ध स्वयं को खड़ा रख सकती है।

(फारवर्ड प्रेस, नवंबर, 2012)

बहुजन साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की कसौटी

संजीव चंदन

पिछले दिनों मैं एक विचित्र स्थापना से गुजरा। एक दलित साहित्यकार का तर्क था कि सावित्रीबाई फुले दलित साहित्य की प्रतीक नहीं हो सकतीं, बल्कि अछूतानंद हरिहर की पत्नी को यह सम्मान मिलना चाहिए। इस हास्यास्पद तर्क के बरक्स हमारे सामने डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर द्वारा बुद्ध, कबीर और जोतिबा फुले को अपना आदर्श बताए जाने का सत्य है, जबकि इनमें से कोई भी दलित नहीं था। इस पृष्ठभूमि में सवाल यह बनता है कि हिंदी का दलित साहित्य आंदोलन कहां पहुंचा है और क्या यह 'अतिशूद्रों' का साहित्य भर रह गया है? सवाल यह भी है कि जिस वर्णाश्रम व्यवस्था के खिलाफ दलित साहित्य का अभ्युदय हुआ, उसके शिकार शूद्रों की पीड़ा या उनके संघर्ष और अभिव्यक्ति को शामिल किए बिना क्या दलित साहित्य ब्राहमणवाद के खिलाफ साहित्यिक-सांस्कृतिक विकल्प दे सकेगा? और इसी कारण शूद्रों-अतिशूद्रों व आदिवासियों के साझे संघर्ष के साहित्य की अवधारणा की जरूरत है। इसको 'बहुजन साहित्य' कहा जा सकता है, कहा जा रहा है या फुले-आंबेडकरी साहित्य कहा जा सकता है।

यदि बहुजन साहित्य की अवधारणा है तो अवश्य ही द्विज साहित्य का भी अस्तित्व है। यद्यपि द्विज साहित्य नाम की कोई घोषित श्रेणी नहीं है, परंतु साहित्य में प्रतीकों, बिंबों, भाषा, परिवेश और उद्देश्य, जिसके तहत चातुर्वर्ण और वर्णाश्रम धर्म का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन होता है, के आधार पर द्विज साहित्य की पहचान की जा सकती है। वहीं बहुजन साहित्य के प्रतीक, बिंब, भाषा और परिवेश बहुजन समाज के होंगे और उद्देश्य, चातुर्वर्ण और वर्णाश्रम धर्म के विरोध के साथ-साथ बहुजन संघर्षों व स्वप्नों की अभिव्यक्ति होगा। यह तो बहुजन साहित्य की मूल प्रवृत्ति होगी, परंतु यदि बहुजन साहित्य की अवधारणा आकार ले रही है तो उसका सौंदर्यशास्त्र भी विकसित किया जाना चाहिए।

बहुजन सौंदर्यशास्त्र की कसौटी पर ही बहुजन साहित्य को कसा जाना चाहिए, अन्यथा कोई भी पिछड़ी जाति का व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति के साथ बहुजन साहित्य में ही योगदान कर रहा होगा।

पिछड़ी जाति के मौजूदा परिवेश को भी देखा जाना चाहिए। दिखता तो यह है कि पिछड़ी जातियों में ब्राह्मणवाद ने खूब पैठ बना रखी है। पिछड़ी जातियां, दलितों की तुलना में सांस्कृतिक वर्चस्व और नियतिवाद से ज्यादा ग्रस्त हैं। यदि पिछड़ी जाति के किसी साहित्यकार में नियतिवाद या सांस्कृतिक वर्चस्व या चातुर्वर्ण के प्रति समर्पण दिखता है, तो क्या उसे 'बहुजन साहित्य' कहा जा सकेगा? दूसरी ओर, 'बहुजन साहित्य' के लिए फुले-आंबेडकरी चेतना का होना भी जरूरी है, और ऐसा है तो फिर सवाल खड़ा होगा कि अगर जन्मना द्विज साहित्यकार में फुले-आंबेडकरी चेतना है और ब्राहमणवाद तथा वर्णाश्रम के प्रति निषेध है, तो क्या उसका साहित्य बहुजन साहित्य के दायरे में आएगा? इन सारे सवालों का जवाब बहुजन साहित्य की अवधारणा के प्रणेताओं को अवश्य देना चाहिए।

दरअसल, हमारे बीच किसी भी नई पहल को सिरे से नकारने की प्रवृत्ति होती है। हिंदू मिथकों के विरुद्ध प्रतिमिथक गढ़ने के प्रयास हो रहे हैं। यह एक सामाजिक यथार्थ है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। महिषासुर की पूजा हो या होलिका का पुनर्पाठ या महाराष्ट्र में महान बहुजन विभूतियों से संबंधित दिवसों को समर्पित दशहरा हो, या 'बली राजा' का त्योहार, ये सब वैकल्पिक सांस्कृतिक प्रयास हैं। यह सांस्कृतिक चेतना या ब्राहमणवाद से टकरानेवाले ऐसे दूसरे सांस्कृतिक प्रयास जिस साहित्य में दर्ज होंगे, वह बहुजन साहित्य ही तो होगा। बहुजन साहित्य को दलित साहित्य के साथ और उसके विस्तार के रूप में विकसित होना चाहिए और इस बात का भी ध्यान रखा जाना जरूरी है कि यह दलित साहित्य आंदोलन के खिलाफ न खड़ा हो जाए।

(फारवर्ड प्रेस, मई, 2014)

बहुजन साहित्य से आगे आएंगी तारा और सावित्रीबाई

अनिता भारती

हममें से कितने ऐसे जागरूक साहित्यकार, सामाजिक कार्यकर्ता और आंदोलनकर्मी हैं, जो 19वीं सदी की क्रांतिकारी लेखिका ताराबाई शिंदे और उनकी 1882 में लिखी पुस्तक 'स्त्री-पुरुष तुलना' (स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर लिखी लघु पुस्तक, जिसने अपने समय में तहलका मचा दिया था) को जानते हैं और उस पर बात करते हैं। 19वीं सदी की सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक क्रांतिकारी नेता सावित्रीबाई फुले (1831–1897) जिन्होंने कन्याओं की शिक्षा के लिए सबसे पहले प्रयास किए तथा तरह-तरह की कठिनाइयां झेलते हुए भी अपने मार्ग से नहीं डिगीं और अंततः तमाम विपरीत परिस्थितियों, विरोधों, पूर्वाग्रहों और उपेक्षाओं को झेलते हुए भी भारत की पहली शिक्षिका बनने का गौरव हासिल किया। आज़ादी के अनेक वर्ष बीतने के बावजूद जातीय पूर्वाग्रहों से ग्रसित मानसिकता वाला हमारा भारतीय समाज तथा उसका उच्च जातीय शिक्षित वर्ग आज की तारीख में भी सावित्रीबाई फुले और उनके द्वारा किए गए समाज-सुधार के काम को पूरा मान देते हुए क्यों उन्हें भारत के मुख्य समाज सुधारकों की सूची में शामिल करने को तैयार नहीं है?

ताराबाई शिंदे को भारतीय स्त्री आंदोलन और उस आंदोलन की स्त्रीवादी वैचारिकी में अन्य भारतीय और विदेशी स्त्रीवादी विचारकों की तर्ज़ पर जो जगह मिलनी चाहिए थी, वैसी बिलकुल नहीं मिली। सवाल है कि आखिर सावित्रीबाई फुले और ताराबाई शिंदे दोनों की घनघोर उपेक्षा का कारण क्या है? सवर्णवादी समाज द्वारा दोनों नेत्रियों की उपेक्षा व अनदेखी करने का कारण कहीं उनका बहुजन समाज से होना तो नहीं? सर्वविदित है कि ताराबाई शिंदे और सावित्रीबाई फुले दोनों बहुजन समाज से थीं। इसलिए दोनों हस्तियों के बहुजन होने के कारण तथाकथित मुख्यधारा के इतिहास और आंदोलन में उचित जगह न मिलना क्या मात्र संयोग ही है या फिर व्यवस्थित रूप से जानबूझकर किया गया ऐतिहासिक, सामाजिक व बौद्धिक षड्यंत्र?

दलित और बहुजनों की अपनी अस्मिता-बोध से उत्पन्न चेतना के कारण आज हमारी दलित-बहुजन आईकन के तौर पर सावित्रीबाई फुले का नाम जाना जाने लगा है और पिछले सात-आठ साल से भारत के सामाजिक क्रांतिकारियों में बढ़-चढ़ कर

गिना जाने लगा है। इसी संदर्भ में यह बात मेरे लिए यहां करना ज़रूरी हो गया है कि सावित्रीबाई फुले के निर्वाण दिवस यानी दस मार्च को भारतीय महिला दिवस के रूप में पिछले कुछ सालों से दलित महिला आंदोलन मनाता आ रहा है और खुशी की बात यह भी है कि बहुत सारे दलित-बहुजन व स्त्री संगठन भी अब दस मार्च को भारतीय महिला दिवस के रूप में मनाने लगे हैं। यह उदाहरण एक साझी ताकत और साझे संघर्ष का परिणाम है। मैं बहुजन साहित्य को इसी सांझी ताकत और साझे संघर्ष के रूप में देखती हूं। मेरा मानना है कि बहुजन साहित्य के आने से दलित साहित्य द्वारा विभिन्न मुद्दों, सवालों पर चलाई जा रही बहस को एक विस्तार मिलेगा, लड़ाई की ताकत बढ़ेगी। दलित आंदोलन ने हमेशा ऐसी हस्तियों को अपना मित्र, हितैषी और लीडर माना है, जिन्होंने भी वर्ण-जाति के खिलाफ़ खड़े होकर समानता के लिए प्रतिबद्ध रूप से संघर्ष किया है, अब वे चाहे किसी भी वर्ग समुदाय और जाति के हों।

मैं यह भी मानती हूं कि समाज में दबी-कुचली अस्मिताओं की आवाज़ व अभिव्यक्ति हमेशा से ही किसी न किसी रूप में रही है, चाहे वह लोकसाहित्य हो या लोककलाएं अथवा कोई अन्य माध्यम। दुःख है कि प्रतिभा को पैदाइशी जन्मजात गुण मानने वाले इस जातिवादी देश ने सिर्फ़ कुछ चुनिंदा जातियों की ही प्रतिभाओं का गुणगान व बखान किया। बाकी अस्मिताओं की आवाज़ उसमें घुटकर रह गई या घोंट दी गई। उनकी आवाज़ को कभी मुख्य स्वर नहीं बनने दिया गया। आज दलित-बहुजन समाज के लोग जिस तरह से पढ़-लिखकर, प्रखर वैचारिक चेतना-बोध से लैस होकर बहस में आगे आ रहे हैं व सवालों से टकरा रहे हैं, उससे एक उम्मीद जगती है कि अब वह समय दूर नहीं, जब सब दबी-घुटी व कुचली हुई अस्मिताएं एक साथ मिलकर अपने प्रति होने वाले अत्याचार, अपमान, प्रताड़ना के खिलाफ़ लड़ते हुए अपने को हाशिए पर धकेल दिए जाने की साज़िश के कुचक्र की लगाम कस देंगी।

पिछले कुछ समय से साहित्य में एक और धारा के रूप में चर्चा में आए बहुजन साहित्य की बात की जा रही है। अब चाहे हम उसे ओबीसी साहित्य कहें अथवा बहुजन साहित्य, इस पर हमें खुलकर बहस करनी चाहिए। हमारा रुख उदारवादी होना चाहिए। ऐसा नहीं कि जिस तरह का विरोध-प्रतिरोध, खंडन-मंडन, ताने-तकाज़े दलित और स्त्री साहित्य को झेलने पड़े, वैसे बहुजन साहित्य को भी झेलने पड़ें, क्योंकि किसी भी तरह की विचारधारा व सिद्धांत पर यदि खुलकर बहस-चर्चा हो जाए तो बेहतर होता है, क्योंकि किसी भी विचारधारा व सिद्धांत की जांच-पड़ताल केवल बहस-चर्चा आदि से ही हो सकती है, न कि बने-बनाए अनुमानों से या अनदेखा करके। अगर सिद्धांत ठीक है तो चर्चा आगे चलेगी और नहीं तो वह अपने आप बंद हो जाएगी।

शुरू-शुरू में दलित साहित्य और स्त्री साहित्य पर खूब आरोप मढ़े गए। कभी कथ्य को लेकर तो कभी शिल्प को लेकर और तो और, जीवन की जातीय-लिंगीय त्रासदी

के कड़वे अनुभवों के बयान पर भी आपत्ति दर्ज की गई, पर दोनों अस्मिताओं ने उन सारे आरोपों, सारे प्रश्नचिह्नों, सारे पूर्वाग्रहों और शंकाओं को खारिज करते हुए आखिरकार अपने पैर साहित्य की ज़मीन पर गाड़ ही लिए। अब यह दूसरी बात है कि दलित साहित्य और स्त्री साहित्य में आज दलित स्त्री को ठीक उन्हीं सवालों, उन्हीं सब पूर्वाग्रहों, प्रश्नों से जूझना पड़ रहा है, जिनसे दलित साहित्य और स्त्री साहित्य को साहित्य के समक्ष जूझना पड़ा था।

बहुजन साहित्य के सामने एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह आएगा कि जब बहुजन समाज आर्थिक रूप से कमज़ोर भी नहीं है और उसमें कुछ जातियां तो काफ़ी मज़बूत स्थिति में हैं, समाज में उनका ठीक-ठाक रुतबा भी है और उनके साथ दलितों की तरह दुर्व्यवहार भी नहीं होता, तब फिर ऐसी क्या ज़रूरत आन पड़ी कि बहुजन साहित्य के अस्तित्व पर बात की जाए। मेरा मानना है कि आज दलित-पीड़ित-दमित अस्मिताएं अपने ऊपर होनेवाले अत्याचार, अपनी परेशानियों, घोर उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं के लंबे इतिहास को खंगालते हुए उसकी अत्याचारी शक्ति के खिलाफ़ सशक्त विरोध कर रही हैं और न केवल विरोध ही कर रही हैं, बल्कि अपने विरोध को उच्च कोटि की सृजनात्मक अभिव्यक्ति देने में भी कामयाब हो रही हैं। यह सृजनात्मक अभिव्यक्ति दलित-पीड़ित-शोषित समाज में जन चेतना भी पैदा कर रही है। तब ऐसे में बहुजन समाज के लोग साहित्य के माध्यम से अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक होकर बाकी दमित-प्रताड़ित अस्मिताओं के साथ आते हैं तो इसमें कुछ भी बुरा नहीं है, बल्कि अच्छा ही है। बहुजन समाज बहुत बड़ा समाज है। हो सकता है आज इस बहुजन समाज के अगड़े माने जानेवाले लोग ही सबसे पहले आगे आएं, पर भविष्य में इसी बहुजन समाज की बेहद पिछड़ी और कुचली अस्मिताएं भी एक दिन पूरे समाज के सामने अपनी बात रखने में ज़रूर कामयाब होंगी।

साहित्य में ताकत असीम है। सामाजिक, राजनीतिक आंदोलनों को भी साहित्य से बहुत ताकत मिलती है। साहित्य की इस असीम ताकत के बल पर यह संभव है कि एक दिन दलित आंदोलन, महिला आंदोलन व अन्य प्रगतिशील, प्रजातांत्रिक आंदोलन के साथ बहुजन आंदोलन, सब एक साथ मिलकर अपनी अस्मिता की चेतना से लैस होकर जातिवाद, लिंगभेद और किसी भी तरह की असमानता और भेदभाव के खिलाफ़ एक वर्ग के रूप में संगठित हो जाएं। संभव हैं मैं तमाम तरह की अस्मिताओं को एक साथ आने को लेकर ज़्यादा स्वप्नदर्शी हो रही हूं, पर यह स्वप्न उस दिन पूरा हो सकता है, जिस दिन दलित, पिछड़े, आदिवासी, अल्पसंख्यक और महिलाएं आदि सब इस जातिवादी ब्राह्मणवादी, सामंतवादी, पूंजीवादी पितृसत्ता को मिलकर चुनौती देंगे। बहुजन साहित्य के आने से यह संभावना ज़रूर जगती है, पर हां, बहुजन साहित्य को अपनी वैचारिकी, दर्शन, राजनीति और धार्मिक सभी पक्षों पर खुलकर विचार-मंथन करना होगा।

(फारवर्ड प्रेस, अप्रैल, 2012)

बहुजन साहित्य के अलावा सब लुगदी

संदीप मील

भारतीय समाज का स्तरीकरण ब्राह्मणवाद की जिस सामाजिक-वैचारिक व्यवस्था के तहत किया गया था, उसमें 'पवित्रता' का पाखंड खड़ा कर शूद्र, अतिशूद्र और पिछड़ों के वैचारिक स्तर पर संगठित होने की संभावनाओं को हर काल में दबाया गया। चूंकि इन तीनों का संगठित होना इस व्यवस्था का समूल अंत कर सकता था, इसलिए सामाजिक स्तर पर भारत में चले समतामूलक आंदोलनों के दौरान पिछड़ों को सवर्णों ने अपने पाले में लेने की कोशिश की। मूल खतरा ब्राह्मणवादी हिंदू धर्म के विखंडन का था, जिसे धर्म और आस्था के नवीन प्रारूप से ही बचाया जा सकता था। आर्य समाज इस नवीन प्रारूप का उदाहरण है, जो औपनिवेशिक भारत में शूद्र, अतिशूद्र और पिछड़ों की एकता को तोड़ने की कोशिश था, क्योंकि ये तीनों ही शोषण की संरचनाओं से उत्पन्न अनुभवजन्य ज्ञान को संवाद के स्तर पर लाकर मुक्ति की विस्तृत चेतना की ओर ले जा रहे थे। इसलिए ब्राह्मण धर्म के लिए जरूरी था कि वह कला, साहित्य और भू-संबंधों की संरचनाओं को विभाजनकारी रूप में स्थापित करे।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में यह प्रवृत्ति तमाम स्तरों पर तीव्र गति से बढ़ी। जहां दलित साहित्य की बढ़ती लोकप्रियता से सवर्ण साहित्यकार चिंतित थे, वहीं उन्हें 'ओबीसी' साहित्य की दस्तक का भी आभास हो चुका था और हिंदी के एक 'महान' आलोचक ने पूरे सवर्ण समाज की इस 'पीड़ा' को 'साहित्य में आरक्षण नहीं' के जुमले के तहत उजागर किया। दरअसल, उन्हें जो खतरा था, वह ओबीसी साहित्य से न होकर उस दौर में रची जा रही 'बहुजन साहित्य' की उस अवधारणा से था, जिसमें दलित, स्त्री, आदिवासी और ओबीसी को शामिल किया गया था, क्योंकि इससे सदियों से उनके द्वारा रची गई 'विभाजनकारी' रणनीति को नेस्तनाबूद किया जा सकता था। यह केवल कला और साहित्य पर ही नहीं, बल्कि 'ज्ञान' के उन तमाम क्षेत्रों पर लागू था, जहां बहुजन की दस्तक शुरू हो गई थी। जब यह आलोचक चिल्ला रहे थे, वह दौर ठीक वही था, जब पिछड़ों की पहली फौज भारतीय अकादमिक सवर्ण वर्चस्व के पहले घेरे को ध्वस्त कर रही थी। वह सवर्ण वर्चस्व को न केवल प्रतिनिधित्व के स्तर पर तोड़ने की कोशिश कर रही थी, बल्कि हजारों साल से कैद किए गए ज्ञान को मुक्त करने की ओर भी बढ़ रही थी। राजनीति में जिस तीव्र गति से बहुजन की भागीदारी बढ़ रही है, उतनी गति से शायद साहित्य और कला में यह नहीं हो रहा है,

क्योंकि प्रकाशन व आलोचना से लेकर संपूर्ण पठन-पाठन पर सवर्णों का एकाधिकार रहा है। इसमें भी अफसोस नहीं होना चाहिए कि 'प्रगतिशीलता' का चोला धारण किए आलोचकों ने अंततः सवर्ण आलोचक का फर्ज ही अदा किया है।

यही कारण है कि 'बहुजन' की अवधारणा हाशिए के पूरे समाजों के इतिहास लेखन से प्रसार पा रही है। जोतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले के स्थान पर राजा राममोहन राय और सर्वपल्ली राधाकृष्णन के व्यक्तित्व को महिमामंडित करने का कार्य इन्हीं तथाकथित प्रगतिशील आलोचकों का है। मजेदार तो यह भी है कि इन आलोचकों की चिंताएं किसान और मजदूर के सर्वहारा वर्ग की भी कतई नहीं थीं। वे कलावाद और जनवाद के बीच अपनी जातीय पहचान के आसपास ही मंडराते रहे, जबकि बहुजन की अवधारणा में बुद्ध से लेकर फुले तक, किसान और मजदूर की चिंताओं और संघर्ष को आत्मसात् किया गया है। दलित और पिछड़ों द्वारा रचित संगीत के सात स्वरों को भी 'शास्त्रीय' के सवर्ण लिबास में ढंकते वक्त किसी ने यह जानकरी भी नहीं दी कि यह लोक संपत्ति है जिसका रचयिता बहुजन रहा है। 'ज्ञान लूट' में चेतना का पूरा स्तर ही द्विजों को आधार मानकर रचा गया है। ऐसे में हिंदी के उन आलोचक की चिंता असल में द्विज वर्चस्व को बनाए रखने की चिंता ही कही जा सकती है।

जोतिबा फुले का 'किसान का कोड़ा' नाटक भारतीय उपमहाद्वीप में कृषक वर्ग की समस्याओं का बेहतरीन दस्तावेज कहा जा सकता है, जिसमें सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश के द्वंद्व का सटीक विश्लेषण किया गया है, लेकिन इसे साहित्य के इतिहास में जान-बूझकर नजरंदाज किया गया। एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह भी है कि भारतीय समाज में 'सामाजिक समानता' की अवधारणा बुद्ध से पूर्व किसी विचारक में दिखाई नहीं देती है। इसे अवधारणात्मक स्तर पर फुले ने विकसित किया। अब सवाल यह है कि जिस सांस्कृतिक संरचना में 'सामाजिक समानता' की अवधारणा तक नहीं है, उस सांस्कृतिक संरचना के साहित्य को 'जनता का साहित्य' कैसे माना जा सकता है? असल में तो उसे 'साहित्य' ही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह समाज विकास में योगदान देने की बजाय यथास्थितिवादी है। इसलिए भारतीय साहित्य तो 'बहुजन साहित्य' से ही प्रारंभ होता है। इससे इतर जो सवर्ण लेखन है, उसे 'शोषण का औजार' कहा जा सकता है।

बहुजन के साहित्य की धारा तो बहुत लंबी है लेकिन मजेदार बात यह भी है कि बहुजन साहित्य को निकाल दिया जाए तो तथाकथित हिंदी साहित्य में मात्र लुगदी बचेगी। यहीं पर उन आलोचक महोदय की छटपटाहट समझी जा सकती है। आखिर वे इस 'लुगदी' के बल पर कैसे 'महान' आलोचक बन सकते हैं, जबकि उनकी आलोचना के सारे औजार तो सवर्ण हैं। यह महत्त्वपूर्ण है कि सवर्ण चिंतकों का सामाजिक परिवर्तन का आकलन ही गलत साबित हो गया है। जैसा कि इन आलोचक का कहना था कि समाज के बद्धमूल संस्कारों को खत्म करने में सौ दो-सौ साल का समय लगेगा। बहुजन की राजनीतिक चेतना से लेकर सांस्कृतिक परिवर्तन की तमाम बयारों को देखने के बाद स्थिति में बदलाव हो रहा है और यह समय-सीमा भी गलत साबित हो रही है। जब उनकी सामाजिक समझ पर इतना बड़ा आघात हो रहा है, तब क्या यह सवाल बिल्कुल नहीं पूछा जाना चाहिए कि उनके तथाकथित 'प्रगतिशील' आंदोलन के तर्कों में कितनी सवर्ण रूढ़िवादिता थी? *(फारवर्ड प्रेस, जुलाई, 2014)*

महात्मा बनाम महात्मा की बहस चलाएं

वामन मेश्राम

फारवर्ड प्रेस की बहुजन साहित्य वार्षिकी (अप्रैल, 2012) देखकर मुझे बहुत खुशी हुई। एक बात का अफ़सोस ज़रूर हुआ कि यह वार्षिकी इतने कम पन्नों की क्यों है? हमारे लोग इससे संतुष्ट नहीं हो पाएंगे। वार्षिकी कम से कम वार्षिकी के हिसाब से अधिक पन्नों की होनी चाहिए थी। लोग इसके लिए पैसे देने को तैयार होंगे। आप अधिक पन्नों की निकालें। मैं खुद उसकी 1,000 प्रतियां खरीदूंगा।

यहां मैं वे बातें कहना चाहता हूं जो फारवर्ड प्रेस को राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित होने के लिए आवश्यक हैं। महात्मा फुले के विचारों को यह मैगज़ीन ध्यानपूर्वक आगे बढ़ा रही है। यह एक अनूठा प्रयास है। फुले की विचारधारा को आगे बढ़ाने का मतलब है आग में हाथ डालना। जिस ओबीसी वर्ग के लोगों के लिए फारवर्ड प्रेस में बातें लिखी जाती हैं, उस वर्ग के लोग महात्मा गांधी को मानते हैं, महात्मा फुले को नहीं। उत्तर भारत में राममनोहर लोहिया ने ओबीसी को गांधी के पीछे लगाया। योजना बना कर, प्लान बना कर। मैं ये बातें सारे डाक्यूमेंट्स और दस्तावेज़ के आधार पर कह रहा हूं। गांधी सवर्णों की वर्चस्ववादी राजनीति का बहुत बड़ा हथियार हैं। दूसरी बात, जोतिबा फुले आज़ादी के आंदोलन को आज़ादी का आंदोलन नहीं मानते थे। बैकवर्ड क्लास के बहुत सारे लोग इसे मानने से बिलकुल इनकार कर देंगे। आज़ादी के आंदोलन में महात्मा फुले को शामिल करने का प्रयास किया गया। फुले ने उस आंदोलन में शामिल होने से इनकार कर दिया। यह उस वक्त की बात है, जब गांधी पैदा भी नहीं हुए थे। कांग्रेसी नेताओं ने छत्रपति शाहू जी महाराज को भी आज़ादी के आंदोलन में शामिल करने का प्रयास किया। छत्रपति शाहू जी महाराज ने भी आज़ादी के आंदोलन में शामिल होने से मना किया। बाबासाहेब आंबेडकर के लिए भी दो बार प्रयास किया गया कि वह आज़ादी के आंदोलन में शामिल हों। आपको सुनकर हैरानी होगी कि उन्होंने भी आज़ादी के आंदोलन में शामिल होने से इनकार कर दिया था। मैं सोचता हूं कि अगर हमारे महापुरुष आज़ादी के आंदोलन में शामिल हो गये होते तो कितना भयंकर परिणाम होता!

संविधान में अब जो बातें आप हमारे पक्ष की देख रहे हो, अगर महात्मा फुले

और आंबेडकर आज़ादी के आंदोलन में शामिल हो गए होते तो आप वह भी नहीं देख पाते।

मैं मानता हूं कि आज़ादी के दो आंदोलन चल रहे थे। एक आंदोलन कांग्रेस का, जो अंग्रेज़ों की गुलामी से ब्राह्मणों की आज़ादी का था। ब्राह्मणों को अंग्रेज़ों से 15 अगस्त 1947 को आज़ादी मिल गई और उनका आंदोलन समाप्त हो गया, लेकिन आज़ादी का दूसरा आंदोलन- ब्राह्मणों से आज़ादी का आंदोलन अभी चल रहा है।

दोस्तों, ओबीसी पर विचार-विमर्श करने से पहले हमें ओबीसी के समाजशास्त्र को समझना होगा। वर्ष 1952 में जब पहला पिछड़ा वर्ग आयोग बनाया गया, तब महाराष्ट्र का ब्राह्मण भी ओबीसी में था। इसलिए आयोग के अध्यक्ष पद की ज़िम्मेवारी एक ब्राह्मण काका कालेलकर को दी गई। इसके विरोध में बाबासाहब आंबेडकर ने (केंद्रीय कैबिनेट से) इस्तीफा तक दे दिया। बाबासाहब कहते थे कि पुणे का ब्राह्मण सबसे अधिक बदमाश होता है। कालेलकर तो ब्राह्मण होने के साथ-साथ गांधीवादी भी था। इसलिए वह डबल बादमाश था। एक बार उसे एक ज़िले में भ्रमण के लिए जाना था। उसने मुसलमान कलेक्टर को लिखा कि खाना बनानेवाला ब्राह्मण ही चाहिए। इसकी बदमाशी का एक दूसरा प्रमाण यह कि जब कालेलकर कमीशन ने अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को दी तो कालेलकर ने अलग से 30 पन्नों का एक स्पेशल पत्र राष्ट्रपति को दिया, जिसमें उन्होंने लिखा था कि आयोग की रिपोर्ट से वह सहमत नहीं है। इसी पत्र को आधार बनाकर नेहरू ने आयोग की रिपोर्ट को सदन में रखने भी नहीं दिया।

अंत में मैं कहना चाहता हूं कि आपको महात्मा वर्सिस महात्मा एक विशेष अभियान चलाना चाहिए। महात्मा जोतिबा फुले बनाम महात्मा गांधी। इसके लिए बहुत कलेजा और जिगर चाहिए। यह जिगर फारवर्ड प्रेस के पास है, ऐसा मैं मानता हूं। मैं जो सलाह दे रहा हूं, वह अलोकप्रिय होने का तरीका है, मगर यह तरीका अपनाए बगैर आप आगे नहीं बढ़ सकते, हमें और आपको यह तरीका अपनाना ही होगा। अभी तक फारवर्ड प्रेस ने जो लिखा है वह वाकई में बल्ले-बल्ले करानेवाला है। मैं तो यह भी कहूंगा कि फारवर्ड प्रेस को हर साल वृहत स्तर पर बहुजन साहित्यकारों का सम्मेलन आयोजित करना चाहिए, ताकि बहुजन वर्ग के साहित्य को आगे बढ़ाया जा सके। *(20 अप्रैल, 2012 को कांस्टीट्यूशन क्लब, नई दिल्ली में आयोजित फारवर्ड प्रेस की तीसरी सालगिरह पर दिए गए भाषण का अंश)*

(फारवर्ड प्रेस, मई, 2012)

'मैं बहुजन साहित्य के विचार में यकीन करती हूं'

अरुंधति रॉय

यह सच है कि मुझसे अभी एक या दो दिन पहले ही पूछा गया था कि क्या मैं इस (फॉरवर्ड प्रेस की बहुजन साहित्य वार्षिकी के लोकार्पण समारोह) कार्यक्रम में आना चाहूंगी और मैंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी सहमति दे दी। यद्यपि, सामान्यतः मैं किसी भी कार्यक्रम में मुख्य अतिथि बनने से बचती हूं, परंतु मैं (यहां आने के लिए) इसलिए राजी हुई, क्योंकि मेरा मानना है कि यहां हम एक महत्त्वपूर्ण विचार पर मंथन कर रहे हैं। यही कारण था कि मैं इसमें शामिल होना चाहती थी।

यह (बहुजन साहित्य) उन लोगों का साहित्य है,जो दमन की अवधारणा को एक जटिल दृष्टिकोण से देखते हैं। मेरे विचार में समस्या यह है कि हम जातिवाद से ग्रस्त समाज से कैसे लड़ें? जातिवाद से ग्रस्त समाज, ऐसे समाज से भी बुरा है, जिसमें गुलामी का प्रचलन हो, यह रंगभेद से भी बदतर है। यह एक ऐसा समाज है, जो यह मानता है कि उसके अन्याय के पदक्रम के ढांचे को धर्मग्रंथों की स्वीकृति प्राप्त है, उससे आप कैसे लड़ेंगे और यह एक ऐसा ढांचा है, जो सदियों पुराना है और आप लोगों से कह रहे हैं, या लोग सोचते हैं कि आप उनसे कह रहे हैं कि अन्याय न करने के लिए वे उस सब को नकार दें, जो वे हैं, क्योंकि अन्याय हर व्यक्ति की मूल बुनावट का हिस्सा है और यह धर्म से जुड़ा हुआ है,जो उन लोगों के रोम-रोम में व्याप्त है।

अतः जाति के खिलाफ लड़ाई एक कठिन लड़ाई है, क्योंकि एक ओर तो यह उस पहचान के खिलाफ लड़ाई है, जो लोगों पर मनमाने ढंग से थोप दी गई है (तो दूसरी ओर) उससे लड़ने के लिए आपको उसी पहचान को स्वीकार करना पड़ता है और फिर आप उसमें कैद हो जाते हैं और यही तो वे चाहते हैं। आप खुद को अलग-अलग खांचों में बांट लेते हैं और उनमें कैद हो जाते है, फिर दलितों को मुसलमानों के खिलाफ खड़ा कर दिया जाता है, ओबीसी को दलितों के खिलाफ, ईसाइयों को आदिवासियों के खिलाफ और उन पहचानों को ओढ़कर, जो हम पर लादी गई हैं, हम एक दूसरे से भिड़ जाते हैं और ठीक वही करते हैं, जिसके लिए जाति बनाई गई है। सबसे कुटिलतापूर्ण चतुराई वाली प्रशासनिक व्यवस्था वह नहीं है, जिसमें ऊपर

बैठे लोग नीचे वालों पर नियंत्रण करते हैं, बल्कि वह है, जिसमें आप उन्हें बांट देते हैं और सबको एक-दूसरे से लड़ा देते हैं।

तो हम इस अन्याय से कैसे इस प्रकार लड़ें कि इसके प्रति हमारे मन में रोष होते हुए भी हम न्याय के विचार को अपने मन में संजोकर रख सकें? हममें अन्याय के प्रति रोष तो हो, परंतु हमारे मन में न्याय के विचार, प्रेम के विचार, सौंदर्य के विचार, संगीत और साहित्य के लिए भी जगह हो, हम कटुता से भरे क्षुद्र व्यक्ति न बन जाएं, क्योंकि वे तो यही चाहते हैं कि हम ऐसे बन जाएं और इसलिए मैं साहित्य के इस विचार में, बहुजन साहित्य के विचार में यकीन रखती हूं, ऐसा साहित्य, जो हर प्रकार के दमन- केवल जातिगत दमन नहीं, को अपनी विषयवस्तु बनाता है और यह केवल जातिगत दमन तक सीमित नहीं रहना चाहिए। कई तरह के दमन होते हैं- परन्तु हम समाज के ढांचे को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते, जो कि एक ऐसा समाज है, जिसे जाति का इंजन गतिमान रखे हुए है, एक ऐसा समाज जिसकी राजनीति का आधार जाति है, जिसका हर विचार, हर सोच जाति पर आधारित है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह समाज वर्ग के आधार पर नहीं चलता, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह घोर पूंजीवाद के आधार पर नहीं चलता। यह समाज कैसे चलता है, इसे समझने के लिए इन सभी चीज़ों पर विचार करना होगा।

इसलिए, मैं सोचती हूं कि हमें साहित्य को ऐसे माध्यम के रूप में देखना चाहिए, जो इस जटिलता को समझने में हमारी मदद कर सकता है। यही कारण है कि साहित्य इतना महत्त्वपूर्ण है। बात यह नहीं है कि किसी किताब की कितनी प्रतियां बिकीं या किसे बुकर पुरस्कार मिला, बात यह है कि क्या साहित्य ऐसे विचारों का सृजन कर रहा है, जो समाज को बदलने के लिए उत्तेजित कर सकें, जागृत कर सकें। यही कारण है कि मुझे यह (निमंत्रण) स्वीकार करते हुए बहुत ख़ुशी हुई, क्योंकि मुझे लगता है जो लोग यहां बैठे हैं, उनके पास सही विचार है। यह विचार आज की दुनिया में बहुत कीमती है।

आज हालात ये हैं कि भाजपा और आरएसएस घरवापसी करवा रहे हैं। असल में यह बहुत पहले शुरू हो गया था, 20वीं सदी की शुरुआत में ही। इसका धर्म से कोई लेना-देना नहीं है। इसका संबंध केवल जनसांख्यिकी, राजनीति और संख्या बल से है। अब वे बाबासाहेब के आरक्षण के विचार का उपयोग उन लोगों को ललचाने के लिए कर रहे हैं, जिन्होंने जाति प्रथा की यंत्रणा से बचने के लिए ईसाई धर्म या इस्लाम अपना लिया है, ताकि वे फिर से धर्मांतरण कर लें। वे आंबेडकर के विचारों का उपयोग उनके ही खिलाफ कर रहे हैं। इस दौर में यह समझना बहुत ज़रूरी है कि कौन हमारा दोस्त है और कौन दुश्मन।

जबकि उग्र तेवरों, जिनके चलते जातिगत विभाजन और गहरे होते हैं और लोग और बंटते हैं, से भी दूसरे पक्ष को ही लाभ हो रहा है, तो हमें अब एकदम साफ़-साफ़ सोचना है, क्योंकि हमारा सामना भयावह हिंसा से होनेवाला है। सभी ईसाइयों,

सभी मुसलमानों, सभी दलितों को यह समझना चाहिए कि ओबीसी समुदाय के नाम पर बड़ा खेल खेला जा रहा, वे लोग ओबीसी होने का नाटक कर रहे हैं, जो ओबीसी नहीं हैं, बनिए हैं और वे वोटों को दूसरी ओर झुका रहे हैं और पहले जैसी स्थिति बनाना चाहते हैं- जो एक तरह का हिंदू धार्मिक प्रभुत्व नहीं है, बल्कि नस्ल के अर्थ में, राष्ट्रीयता के अर्थ में हिंदू प्रभुत्व है। तो हमें जल्दी से जल्दी कुछ सोचना होगा और सोचना ही नहीं, बल्कि प्रभावी और निर्णायक कदम उठाने होंगे। हमें एक अत्यधिक जटिल परिस्थिति में अपने मित्रों और शत्रुओं की पहचान करनी है। मैं जानती हूं कि इस कमरे में जो लोग हैं, उन्होंने इस बारे में बुद्धिमत्तापूर्वक और गहराई से विचार किया है और उनके साथ मंच सांझा करने में मैं बहुत गर्व का अनुभव कर रहीं हूं।

(29 अप्रैल को दिल्ली के कांस्टीट्युशन क्लब में फॉरवर्ड प्रेस पत्रिका की छठवीं वर्षगांठ के अवसर पर आयोजित कार्यक्रम में अरुंधती राय के उद्घाटन भाषण का लिप्यांतर।)

(फारवर्ड प्रेस, जून, 2015)

सिर्फ द्विजों में ही होती है साहित्यिक प्रतिभा?

आज तक किसी भी बहुजन समुदाय से आने वाले हिंदी लेखक को भारत का सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान माना जानेवाला ज्ञानपीठ अवार्ड तथा साहित्य अकादमी अवार्ड नहीं मिला है। देखें सूची :

ज्ञानपीठ अवार्ड (हिंदी)

1968	सुमित्रा नंदन पंत	ब्राह्मण
1972	रामधारी सिंह दिनकर	भूमिहार ब्राह्मण
1978	अज्ञेय	ब्राह्मण
1982	महादेवी वर्मा	कायस्थ
1992	नरेश मेहता	ब्राह्मण
1999	निर्मल वर्मा	खत्री
2005	कुंवर नारायण	राजपूत
2009	अमरकांत	कायस्थ
2009	श्रीलाल शुक्ल	ब्राह्मण
2013	केदारनाथ सिंह	राजपूत

साहित्य अकादमी सम्मान (हिंदी)

1955	माखनलाल चतुर्वेदी	हिम-तरंगिनि (कविता)	ब्राह्मण
1956	वासुदेवशरण अग्रवाल	पद्मावत संजीवनी व्याख्या (टीका)	वैश्य
1957	आचार्य नरेंद्र देव	बौद्ध धर्म दर्शन (दर्शन)	खत्री
1958	राहुल सांकृत्यायन	मध्य एशिया का इतिहास (इतिहास)	ब्राह्मण
1959	रामधारी सिंह 'दिनकर'	संस्कृति के चार अध्याय (भारतीय संस्कृति का एक शोध)	ब्राह्मण
1960	सुमित्रानंदन पंत	कला और बूढ़ा चांद (कविता)	ब्राह्मण
1961	भगवती चरण वर्मा	भूले-बिसरे चित्र (उपन्यास)	कायस्थ
1963	अमृत राय	प्रेमचंदः कलम का सिपाही (जीवनी)	कायस्थ

1964	अज्ञेय	आंगन के पार द्वार (कविता)	ब्राह्मण
1965	नागेंद्र	रस सिद्धांत (कविता समालोचना)	ब्राह्मण
1966	जैनेंद्र कुमार	मुक्तिबोध (उपन्यास)	जैन
1967	अमृत लाल नागर	अमृत और विष (उपन्यास)	ब्राह्मण
1968	हरिवंश राय 'बच्चन'	दो चट्टानें (कविता)	कायस्थ
1969	श्रीलाल शुक्ल	राग दरबारी (उपन्यास)	ब्राह्मण
1970	रामविलास शर्मा	निराला की साहित्य साधना (जीवनी)	ब्राह्मण
1971	नामवर सिंह	कविता के नये प्रतिमान (साहित्यिक आलोचना)	राजपूत
1972	भवानी प्रसाद मिश्र	बुनी हुई रस्सी (कविता)	ब्राह्मण
1973	हजारी प्रसाद द्विवेदी	आलोक पर्व (आलेख संग्रह)	ब्राह्मण
1974	शिवपाल सिंह 'सुमन'	माटी की बारात (कविता)	द्विज
1975	भीष्म साहनी	तमस (उपन्यास)	खत्री
1976	यशपाल	मेरी तेरी उसकी बात (कविता)	खत्री
1977	शमशेर बहादुर सिंह	चुका भी हूं नहीं मैं (कविता)	जाट
1978	भारत भूषण अग्रवाल	उतना वह सूरज है (कविता)	अग्रवाल वैश्य
1979	सुदामा पांडेय 'धूमिल'	कल सुनना मुझे (कविता)	ब्राह्मण
1980	कृष्णा सोबती	जिंदगीनामा (उपन्यास)	खत्री
1981	त्रिलोचन	तप के ताए हुए दिन (कविता)	राजपूत
1982	हरिशंकर परसाई	विकलांग श्रद्धा का दौर (व्यंग्य)	ब्राह्मण
1983	सर्वेश्वर दयाल सक्सेना	खूंटियों पर टंगे लोग (कविता)	कायस्थ
1984	रघुवीर सहाय	लोग भूल गए हैं (कविता)	कायस्थ
1985	निर्मल वर्मा	कव्वे और काला पानी (कहानी संग्रह)	खत्री
1986	केदारनाथ अग्रवाल	अपूर्वा (कविता)	अग्रवाल वैश्य
1987	श्रीकांत वर्मा	मगध (कविता)	कायस्थ
1988	नरेश मेहता	आरण्य (कविता)	ब्राह्मण
1989	केदारनाथ सिंह	अकाल में सारस (कविता)	राजपूत
1990	शिव प्रसाद सिंह	नीला चांद (उपन्यास)	राजपूत
1991	गिरिजा कुमार माथुर	मैं वक्त के हूं सामने (कविता)	कायस्थ
1992	गिरिराज किशोर	ढाई घर (उपन्यास)	वैश्य
1993	विष्णु प्रभाकर	अर्द्धनारीश्वर (उपन्यास)	वैश्य
1994	अशोक वाजपेयी	कहीं नहीं वहीं (कविता)	ब्राह्मण
1995	कुंवर नारायण	कोई दूसरा नहीं (कविता)	राजपूत
1996	सुरेंद्र वर्मा	मुझे चांद चाहिए (उपन्यास)	कायस्थ
1997	लीलाधर जगूड़ी	अनुभव के आकाश में चांद (कविता)	ब्राह्मण
1998	अरुण कमल	नये इलाके में (कविता)	ब्राह्मण

1999	विनोद कुमार शुक्ल	दीवार में एक खिड़की रहती है (उपन्यास)	ब्राह्मण
2000	मंगलेश डबराल	हम जो दिखते हैं (कविता)	ब्राह्मण
2001	अलका सरावगी	कलि-कथाः वाया बाईपास (उपन्यास)	मारवाड़ी वैश्य
2002	राजेश जोशी	दो पंक्तियों के बीच (कविता)	ब्राह्मण
2003	कमलेश्वर	कितने पाकिस्तान (उपन्यास)	कायस्थ
2004	वीरेन डंगवाल	दुश्चक्र में स्रष्टा (कविता)	ब्राह्मण
2005	मनोहर श्याम जोशी	क्याप (उपन्यास)	ब्राह्मण
2006	ज्ञानेंद्रपति	संशयात्मा (कविता)	ब्राह्मण
2007	अमर कांत	इन्हीं हथियारों से (उपन्यास)	ब्राह्मण
2008	गोविन्द मिश्रा	कोहरे में कैद रंग (उपन्यास)	ब्राह्मण
2009	कैलाश वाजपेयी	हवा में हस्ताक्षर (कविता)	ब्राह्मण
2010	उदय प्रकाश	मोहनदास (कहानी)	राजपूत
2011	काशीनाथ सिंह	रेहन पर रग्घू (उपन्यास)	राजपूत
2012	चंद्रकांत देवताले	पत्थर फेंक रहा हूं (कविता)	ब्राह्मण
2013	मृदुला गर्ग	मिलजुल मन (उपन्यास)	ब्राह्मण
2014	रमेशचंद्र शाह	विनायक (उपन्यास)	वैश्य
2015	रामदरश मिश्र	आग की हंसी (कविता)	ब्राह्मण

(फारवर्ड प्रेस, अप्रैल 2012 में प्रकाशित सूची से परिवर्द्धित।)

लेखक

अभय कुमार दुबे : विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) में भारतीय भाषा कार्यक्रम के संपादक अभय कुमार राजनीतिक विश्लेषक व समाज विज्ञानी हैं। वे लंबे समय तक नक्सलबाड़ी आंदोलन से भी जुड़े रहे। 'क्रांति का आत्मसंघर्ष : नक्सलवादी आंदोलन के बदलते चेहरे का अध्ययन', 'आज के नेता : राजनीति के नए उद्यमी (बाल ठाकरे, कांशीराम, मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव, ज्योति बसु, कल्याण सिंह और मेधा पाटकर के राजनीतिक जीवन का आलोचनात्मक अध्ययन), 'आधुनिकता के आईने में दलित', 'लोकतंत्र के चार अध्याय' तथा 'हिंदी की आधुनिकता : एक पुनर्विचार' आदि उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। संपर्क : abhaydubey@csds.in

शरण कुमार लिंबाले (1 जून, 1956) : मराठी दलित लेखक शरण कुमार लिंबाले कवि और आलोचक भी हैं। विभिन्न विधाओं में उनकी 40 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं। उनकी आत्मकथा 'अक्करमाशी' बहुचर्चित रही तथा उसका अनुवाद अंग्रेजी समेत विभिन्न भारतीय भाषाओं में हुआ है। लिंबाले की आलोचना पुस्तक 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' को दलित साहित्य की आलोचना के विकास में ऊंचा स्थान प्राप्त है। संपर्क : sharankumarlimbale@gmail.com

राजेंद्र यादव (जन्म : 28 अगस्त 1929 - मृत्यु : 28 अक्टूबर 2013) हिंदी समाज और साहित्य में दलित और स्त्री विमर्श को केंद्र में लाने वाले राजेंद्र यादव लेखक, कहानीकार, उपन्यासकार व आलोचक थे। हिंदी साहित्य में नई कहानी आंदोलन के अगुआ भी रहे। उपन्यासकार मुंशी प्रेमचंद द्वारा सन् 1930 में स्थापित साहित्यिक पत्रिका हंस का पुनर्प्रकाशन उन्होंने प्रेमचंद की जयंती के दिन 31 जुलाई 1986 को प्रारंभ किया था, जो अब भी प्रकाशित हो रही है। 'सारा आकाश', 'उखड़े हुए लोग' सहित आधा दर्जन से अधिक उपन्यास और 'जहां लक्ष्मी कैद है','अभिमन्यु की आत्महत्या', 'छोटे-छोटे ताजमहल' सहित एक दर्जन कहानी संग्रह प्रकाशित।

बजरंग बिहारी तिवारी (जन्म : 1 मार्च, 1972) : आलोचक व समीक्षक बजरंग बिहारी तिवारी के अध्ययन का मुख्य क्षेत्र दलित साहित्य रहा है। वे पिछले 12 वर्षों से हिंदी की प्रमुख साहित्यिक पत्रिका 'कथादेश' में 'दलित प्रश्न' शीर्षक से कॉलम भी लिख रहे हैं। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं- 'जाति और जनतंत्र', 'भारतीय दलित साहित्य : आंदोलन और चिंतन', 'दलित साहित्य : एक अंतरयात्रा' व 'बांग्ला दलित साहित्य : सम्यक अनुशीलन'। संपर्क : bajrangbihari@gmail.com

वीरेंद्र यादव : हिंदी आलोचक वीरेंद्र यादव प्रेमचंद के गहरे अध्येता हैं। 'गोदान' पर उनका लेख 'औपनिवेशिक, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और भारतीय किसान' संदर्भ गोदान' काफी चर्चित हुआ और इसे गोदान का एक मुकम्मल पाठ भी माना जाता है। 'उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता तथा 'प्रगतिशीलता के पक्ष में' उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। उन्हें आलोचना के लिए प्रतिष्ठित देवीशंकर अवस्थी सम्मान भी प्राप्त है। संपर्क : virendralitt@gmail.com

हरेराम सिंह : हिंदी आलोचक हरेराम सिंह ने वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, बिहार से हिंदी साहित्य में पीएचडी की है। उन्होंने ओबीसी साहित्य की अवधारणा के विकास में उल्लेखनीय योगदान किया है। उनकी दो किताबें 'ओबीसी साहित्य का दार्शनिक आधार' तथा 'हिंदी आलोचना का बहुजन दृष्टिकोण' प्रकाशित हैं। संपर्क : dr.hrsingh08@gmail.com

चौथीराम यादव (29 जनवरी, 1941) : आलोचक और प्रखर वक्ता चौथीराम यादव हिन्दी साहित्य के उन आलोचकों में से एक हैं, जो अपनी मार्क्सवादी और फुले -आंबेडकरवादी दृष्टि के लिए जाने जाते हैं। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर श्री यादव को उत्तरप्रदेश के हिन्दी संस्थान ने प्रतिष्ठित लोहिया साहित्य सम्मान से सम्मानित किया है। 'लोकधर्मी साहित्य की दूसरी धारा', 'उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज', 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण और छायावादी काव्य', 'हजारी प्रसाद द्विवेदी समग्र - पुनरावलोकन' आदि पुस्तकें प्रकाशित।

हरिनारायण ठाकुर : आलोचक हरिनायण ठाकुर की रूचि दलित और पिछड़ा वर्ग के साहित्य और सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में रही है। 'दलित साहित्य का समाजशास्त्र', 'भारत में पिछड़ा वर्ग आंदोलन और परिवर्तन का नया समाजशास्त्र' उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। वे फिलहाल एसआरएपी कालेज, बाराचकिया, पूर्वी चंपारण में प्राचार्य हैं। संपर्क : dr.harinarayanthakur@gmail.com

सुधीश पचौरी (जन्म : 1948) : आलोचक एवं मीडिया विश्लेषक सुधीश पचौरी हिंदी में विखंडनवाद के प्रस्तावक के रूप में ख्यात रहे हैं। उनकी प्रमुख आलोचना पुस्तकें 'नई कविता का वैचारिक आधार', 'कविता का अंत', 'उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद', 'आधुनिक परिदृश्य, उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श', 'साम्राज्यवाद और संस्कृति' व 'नामवर के विमर्श' हैं। संपर्कः spachauri17@gmail.com

गंगा सहाय मीणा (जन्म : 10 जुलाई, 1982) : जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय,

नई दिल्ली में एसोसिएट प्रोफेसर गंगासहाय मीणा हिंदी साहित्य एवं आलोचना के क्षेत्र में कार्यरत हैं। इन्होंने राजस्थान के आदिवासी व हिंदी उपन्यास : अस्मिता व आस्तित्व विषय पर शोध किया है। एक किताब *आदिवासी साहित्य विमर्श* प्रकाशित। वे आदिवासी दर्शन और समकालीन साहित्य सृजन की चर्चित त्रैमासिक पत्रिका 'आदिवासी साहित्य' के संपादक व गोल्डन रिसर्च थॉट्स, मूक आवाज और हॉराइजन नामक शोध पत्रों के संपादकीय सलाहकार भी हैं। संपर्क : gsmeena.jnu@gmail.com

अश्विनी कुमार पंकज (जन्म : 09 अगस्त, 1965): हिन्दी और झारखंड की देशज भाषा नागपुरी में लिखने वाले अश्विनी कुमार पंकज कवि, कथाकार, उपन्यासकार, पत्रकार, नाटककार, रंगकर्मी और आंदोलनकारी संस्कृतिकर्मी हैं। वे जन संस्कृति मंच एवं उलगुलान संगीत नाट्य दल, रांची के संस्थापक संगठक सदस्य भी रहे हैं। इन दिनों वे नागपुरी पत्रिका 'जोहार सहिया', पाक्षिक बहुभाषी अखबार 'जोहार दिसुम खबर' और रंगमंच एवं प्रदर्शनकारी कलाओं की त्रैमासिकी 'रंगवार्ता' का संपादन-प्रकाशन करते हैं। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं 'पेनाल्टी कॉर्नर', और 'इस सदी के असुर' (कथा संग्रह), 'जो मिट्टी की नमी जानते हैं' व 'खामोशी का अर्थ पराजय नहीं होता' (कविता संग्रह), 'अब हामर हक बनेला' (हिंदी कविताओं का नागपुरी अनुवाद), तथा 'झारखंडी साहित्य का इतिहास', 'झारखंड : एक अंतहीन समरगाथा' (लेख संग्रह)। संपर्क : akpankaj@gmail.com

कंवल भारती (जन्म : फरवरी, 1953) : प्रगतिशील आंबेडकरवादी चिंतक कंवल भारती आज के सर्वाधिक सक्रिय लेखकों में से एक हैं। 'दलित साहित्य की अवधारणा', 'स्वामी अछूतानंद हरिहर संचयिता' आदि उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। उन्हें 1996 में डॉ. आंबेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार तथा 2001 में भीमरत्न पुरस्कार प्राप्त हुआ है। संपर्क : kbharti53@gmail.com

मुसाफिर बैठा : दलित कवि व सोशल मीडिया एक्टिविस्ट मुसाफिर बैठा आद्री एवं दीपयतन नामक संस्थाओं की कार्यशालाओं में भाग लेकर नवसाक्षरों एवं अन्य विषयों पर पुस्तिका लेखन किया हैं। उन्हें बिहार सरकार के राष्ट्रभाषा परिषद का नवोदित साहित्य सम्मान तथा भारतीय दलित साहित्य अकादमी, नई दिल्ली द्वारा डॉ. आंबेडकर फेलोशिप सम्मान मिला है। उनकी एक कविता संग्रह 'बीमार मानस का गेह' शीर्षक से प्रकाशित है। संपर्क : musafirpatna@gmail.com

अरविंद कुमार (जन्म : 17 जनवरी, 1930) **:** कवि, कहानीकार व भाषाविद अरविंद कुमार माधुरी और रीडर्सडायजेस्ट के हिंदी संस्करण सर्वोत्तम के संपादक हैं। पत्नी कुसुम के साथ उन्होंने हिंदी के प्रथम थिसारस 'समांतर कोश' का निर्माण

किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई अन्य कोशों की भी रचना की है। संपर्कः samantarkosh@gmail.com

देवेंद्र चौबे (जन्म : 1965) : बिहार के बक्सर के एक गांव में जन्मे देवेंद्र चौबे हिंदी कहानीकार, आलोचक और शिक्षाविद् हैं। 2010 ई. में मॉरिशस के महात्मा गांधी संस्थान में यूजीसी, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के विजिटिंग स्कॉलर रह चुके हैं एवं दलित साहित्य पर काम करने के लिए उन्हें संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा 2000 ई. में लेखकों को दी जानेवाली राष्ट्रीय फेलोशिप भी प्राप्त हो चुकी है। उनकी प्रकाशित पुस्तकों में कहानी-संग्रह कुछ समय बाद के अलावा आलोचना पस्तकों में आलोचना का जनतंत्र, आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, समकालीन कहानी का समाजशास्त्र और कथाकार अमृतलाल नागर प्रमुख हैं। संप्रति वे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली के भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान में प्राध्यापक हैं। संपर्क : cdevendra@gmail.com

अमरेंद्र कुमार शर्मा : अलोचक व कवि अमरेंद्र कुमार शर्मा साहित्य को विभिन्न कला माध्यमों के साथ जोड़ कर देखने में रुचि रखते हैं। उनकी दो पुस्तकें प्रकाशित हैं -'आपातकालीन हिंदी साहित्य और पत्रकरिता', और 'आलोचना का स्वराज'। संप्रति वे महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में प्राध्यापक हैं। संपर्क : amrendrakumarsharma@gmail.com

अनिता भारती (जन्म : 9 फरवरी, 1965) : दिल्ली के सीलमपुर की मूल निवासी अनिता भारती दलित कवि व आलोचक हैं। वे पेशे से शिक्षिका हैं तथा स्त्री व दलित अधिकारों के लिए निरंतर सक्रिय रहती हैं। उन्होंने सावित्री बाई फुले की कविताओं का हिंदी में संपादन किया है तथा उनका कविता संग्रह 'एक कदम मेरा भी' प्रकाशित है। उन्हें राधाकृष्णन शिक्षक पुरस्कार, इंदिरा गांधी शिक्षक सम्मान, दिल्ली राज्य शिक्षक सम्मान, बिरसा मुंडा सम्मान, वीरांगना झलकारी बाई सम्मान, 'बेस्ट सोशलवर्कर सम्मान' भी प्राप्त है।

संदीप मील (जन्म : 15 मई, 1988) **:** युवा कहानीकार संदीप मील का जन्म राजस्थान के सीकर जिला के पोषाणी गांव में हुआ। उन्होंने कथा लेखन में मौलिक संवादपरक शैली के कारण एक अलग पहचान बनाई है। 'दूजी मीरा' उनका पहला कथा संग्रह है। इसके अतिरिक्त उनका राजस्थानी में एक बाल कहानी संग्रह तथा 'अन्ना से अरविंद तक' शीर्षक से संपादित किताब भी प्रकाशित है। संपर्क : skmeel@gmail.com

वामन मेश्राम : बामसेफ के राष्ट्रीय अध्यक्ष वामन मेश्राम का जन्म महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिला में हुआ। बामसेफ अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़े व इन समुदायों के धर्मांतरित अल्पसंख्यकों के कर्मचारियों का अखिल भारतीय संगठन है। बामसेफ को इन तबकों में विशाल जनसमर्थन हासिल है।

अरुंधति रॉय (24 नवंबर, 1961) : उपन्यास 'गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' के लिए बुकर पुरस्कार (1997) पाने वाली अरुंधति राय ने दलित-बहुजन और आदिवासी मुद्दों पर भी विपुल लेखन किया है। द इंड ऑफ इमेजिनेशन, द अलजेबरा ऑफ इनफिनाईट जस्टीस, लिस्निंग टू ग्रासहूपर्स : फिल्ड नोट्स ऑन डेमोक्रेसी, वाकिंग विद द कामरेड्स, कश्मीर : द केस फॉर फ्रिडम, कैपिटलिज्म : अ घोस्ट स्टोरी, आदि उनके चर्चित लेख संग्रह हैं। संपर्क : easywinterlight@gmail.com

साक्षात्कार व अनुवाद

अमरेंद्र यादव : फारवर्ड प्रेस में संपादकीय सहयोगी रहे अमरेंद्र यादव इन दिनों माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, भोपाल में अध्यापक हैं। वे इंडियन मीडिया सेंटर, नई दिल्ली के सदस्य एवं अक्षर इंडिया अभियान के संयोजक भी हैं। संपर्क : press.amarendra@gmail.com

नवल किशोर कुमार (जन्म : 29 जून 1983) **:** बिहार के एक निम्न आय वर्गीय परिवार में जन्मे नवल किशोर कुमार कई वर्षों तक सॉफ्टवेयर टेक्नोक्रेट के रुप में काम करने के बाद वर्ष 2006 में पत्रकारिता में आए तथा 'अपना बिहार डाट ओआरजी' नामक न्यूज पोर्टल शुरू कर बिहार की पत्रकारिता में एक बहुजन विकल्प पेश करने की कोशिश की। इस बीच उन्होंने पटना से प्रकाशित सन्मार्ग, दैनिक आज व दिल्ली से प्रकाशित फारवर्ड प्रेस, अर्ली मार्निंग (पटना) आदि में भी बतौर पत्रकार काम किया। फिलहाल वे पटना से प्रकाशित दैनिक तरुणमित्र के समन्वय संपादक हैं।

प्रेमा नेगी : जन ज्वार डॉट काम की संपादक प्रेमा नेगी विभिन्न हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर लिखती रही हैं। उनके द्वारा किए गए विभिन्न समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों व साहित्यकारों के कई साक्षात्कार चर्चित रहे हैं।